मेरे जैसे लोगों के लिए समझ सकना लगभग असंभव था। अतः हमें अंग्रेजी में लिखी बहुत सी प्रमाणिक पुस्तकों का संग्रह करना पड़ा। उन पुस्तकों की सहायता से और अपने कुछ मित्रों और शुभचिन्तकों के सहयोग, सुझावों तथा आलोचनाओं की कृपा से हमने कुछ टिप्पणियां लिखी।

हमारे मित्रगण और हितैषियों ने हमें यह प्रेरणा दी कि हम इन टिप्पणियों को प्रकाशित करायें ताकि अन्य छात्राएं और गृह स्वामिनियां भी उनसे लाभ उठा सकें। इसलिए उनको एक पुस्तक का रूप दिया गया। पुस्तक लिखते समय इस बात का विशेष ध्यान दिया गया है कि इसमें कहीं भी कठिन शब्द न आने पायें ताकि इसे साधारण हिन्दी पढ़ा व्यक्ति भी भली-भांति समझ सके। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विषय पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सिद्धान्तों की व्याख्या के साथ-साथ इसे अधिक से अधिक व्यवहारिक बनाने की चेष्टा की गयी है ताकि यह न केवल छात्राओं बल्कि गृह स्वामिनियों के लिये भी उपयोगी सिद्ध हो।

पुस्तक के लगभग पूर्ण हो जाने पर पंजाब विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा का पाठ्य क्रम हमारी दृष्टि से गुजरा। हमने देखा कि पुस्तक में एक दो अध्याय और जोड़ देने से यह वहां की छात्राएं के लिये भी उपयोगी हो सकती है। इसलिए इसे प्रस्तुत करने से पहले इसमें आवश्यक परिवर्तन कर दिये गए।

हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक भारत के सभी विश्वविद्यालयों की गृह-विज्ञान विषय की छात्राओं और सभी गृह-स्वामिनियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी। फिर भी हम पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे इसे और भी उपयोगी बनाने के लिए हमें अपने बहुमूल्य सुझावों से अनुग्रहीत करें ताकि आगामी संस्करण में हम उनसे लाभ उठाने का प्रयास कर सकें।

लेखक

4. Care of the infant— (अध्याय १३)
    (a) Regular weighing as a guide to progress.
    (b) Weaning.
    (c) Teething
    (d) Clothing.
    (e) Formation of Regular Excretory habits.
    (f) *Treatment of minor digestive ailments.*
5. Problems of infant Mortality. (अध्याय १५)
6. Modern movements for child welfare. (,,)
7. The study of children's Development (अध्याय ८,९,११) from the point of view of physique, *intelligence and character*, based as far as possible on the observation of individuals and classes

पंजाब विश्वविद्यालय (Punjab University) की बी० ए० परीक्षा के गृह-विज्ञान द्वितीय प्रश्न-पत्र का पाठ्य-क्रम।

CHILD PSYCHOLOGY AND MOTHER CRAFT

Part (a)—Child Psychology

1. *The Aim and Methods of child* (अध्याय ७) Psychology.
2. Psychological Characteristics (,,) *of the various phases of child*-development (a) Infancy. (b) Early childhood, (c) Later child-*hood* (d) Adolescence.
3. Emotional Development and (अध्याय ११, १४) Education of the child—with special Reference to (a) Love, (b) fear, (c) Anger.
4. Intellectual growth of the child (अध्याय ९)
5. Sexual development and Sex- (अध्याय १०) education of the child.

(१०) सामूहिकता (Social)
(११) भोजनान्वेषण (Food-Seeking)
(१२) संग्रह-प्रवृत्ति (Collection)
(१३) विधायकता, रचना-प्रवृत्ति (*Construction*)
(१४) हास (Laughter)

नोट:—इनके विषय में सविस्तार जानने के लिये अध्याय ११ देखिये।

हम सामान्यतः इन्हीं प्राकृतिक शक्तियों के वश में होकर काम करते हैं। किम्बल यंग (Kimball young) ने इन प्राकृतिक प्रेरिक शक्तियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है:—

(१) वे जो हमारे शरीर की रचना द्वारा प्रभावित होती हैं जैसे:—

(क) रक्त की गति (*Circulation of Blood*), श्वास-क्रिया (*Respiration*), शारीरिक तापमान की स्थिरता (*Stability of Temperature*)
(ख) भूख-प्यास शान्त करने की इच्छा
(ग) मल विसर्जन-मल, मूत्र, पसीना
(घ) निद्रा
(ङ) सन्तानोत्पत्ति।

(२) वे जो शरीर पर बाहर से पड़ने वाले प्रभावों से उत्पन्न होती हैं जैसे:—

(क) दुःख से निवृत्ति की इच्छा
(ख) सुखदायक वस्तुओं से आनन्द।

(३) वे जो ऊपर बताई गई शक्तियों के कारण हमारे शरीर में कोई प्रतिक्रिया (*Re-action*) उत्पन्न कर देती हैं जैसे:—

(क) वाणी का उच्चारण
(ख) मांसपेशियों (*Muscles*) का परिचालन
(ग) भावनाओं का प्रदर्शन।

कई विद्वानों के मत में हमारी निम्नांकित तीन आधारभूत प्रवृत्तियां (Basic Drives) आवश्यकताओं को जन्म देती हैं:—

(१) भूख-प्यास (Hunger and Thirst)
(२) यौनिक इच्छा (*Sexual Desires*)
(३) शरीर-रक्षा की इच्छा (Desire for bodily Protection)।

(१०) सामूहिकता (Social)
(११) भोजन-खोज (Food-Seeking)
(१२) संग्रह-प्रवृत्ति (Collection)
(१३) निर्माणकता, रचना-प्रवृत्ति (Construction)
(१४) हास (Laughter)

नोट:—इनके विषय में सविस्तार जानने के लिये अध्याय ११ देखिये।

हम साधारणतः इन्हीं प्राकृतिक शक्तियों के वश में होकर काम करते हैं। किम्बाल यंग (Kimball young) ने इन प्राकृतिक प्रेरक शक्तियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है:—

(१) वे जो हमारे शरीर की रचना द्वारा प्रभावित होती हैं जैसे:—
  (क) रक्त की गति (Circulation of Blood), श्वास-क्रिया (Respiration), शारीरिक तापमान की स्थिरता (Stability of Temperature)
  (ख) भूख-प्यास शान्त करने की इच्छा
  (ग) मल विसर्जन-मल, मूत्र, पसीना
  (घ) निद्रा
  (ङ) सन्तानोत्पत्ति।

(२) वे जो शरीर पर बाहर से पड़ने वाले प्रभावों से उत्पन्न होती हैं जैसे:—
  (क) दुःख से निवृत्ति की इच्छा
  (ख) सुखदायक वस्तुओं में आसक्ति।

(३) वे जो ऊपर बताई गई शक्तियों के कारण हमारे शरीर में कोई प्रतिक्रिया (Re-action) उत्पन्न कर देती हैं जैसे:—
  (क) वाणी का उच्चारण
  (ख) मांसपेशियों (Muscles) का परिचालन
  (घ) भावनाओं का प्रदर्शन।

कई विद्वानों के मत में हमारी निम्नांकित तीन आधारभूत प्रवृत्तियां (Basic Drives) आवश्यकताओं को जन्म देती हैं:—

(१) भूख-प्यास (Hunger and Thirst)
(२) यौनिक इच्छा (Sexual Desires)
(३) शरीर-रक्षा की इच्छा (Desire for bodily Protection

(६) फैशन (Fashion)—

समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को फैशन के अनुसार चलना ही पड़ता है। जो लोग प्रचलित फैशन के अनुसार अपनी आवश्यकताओं में परिवर्तन नहीं करते, लोग उन्हें रूढ़िवादी और असभ्य की उपाधि से विभूषित करते हैं। अतः मनुष्य की आवश्यकताओं के निर्धारण में फैशन का महत्व भी कम नहीं।

(७) नैतिक (Moral) विचार—

मनुष्य की आवश्यकतायें इस बात पर भी निर्भर करती हैं कि उसके नैतिक विचार कैसे हैं। गान्धीवादी सादा जीवन में विश्वास करते हैं। हिन्दू "सन्तोषं परमं सुखं" के प्रवर्तक हैं। इसलिये उनकी आवश्यकतायें बहुत कम होती हैं। इसके विपरीत भौतिकवादियों (Materialists) का मत है कि समाज की उन्नति के लिये आवश्यकताओं की वृद्धि नितान्त आवश्यक है। क्योंकि आवश्यकता ही चेष्टा को उत्पन्न करती है और चेष्टा ही सभ्यता की जननी है।

(८) आर्थिक (Economic) स्तर (Standard)—

मनुष्य का आर्थिक स्तर क्या है, यह बात उसकी आवश्यकताओं के निर्धारण में कम महत्वपूर्ण नहीं। निर्धन व्यक्ति की आवश्यकतायें भोजन, वस्त्र, मकान तक ही सीमित होती हैं। पर धनी व्यक्ति सुख-सुविधा की सब वस्तुओं, मोटर, रेडियो, रिफ्रेजरेटर (Refrigrater) तक को जुटाने का प्रयास करता है।

(९) आदत (Habit)—

व्यक्ति की व्यक्तिगत आदतें भी उसकी आवश्यकताओं को उत्पन्न करती हैं। सिग्रेट या चाय पीने की आदत यदि किसी व्यक्ति को पड़ जाय तो वह नित्य उसे सन्तुष्ट करने के लिये प्रयत्नशील रहेगा। शराबी सभी आवश्यकताओं का बलिदान करके भी शराब की आवश्यकता को सन्तुष्ट करता है।

(१०) ज्ञान (Knowledge)—

ज्ञान को आवश्यकताओं का जन्मदाता कहा जाता है। हमें जिस वस्तु का ज्ञान ही न हो उसकी हम इच्छा कैसे कर सकते हैं? इसके विपरीत हमें जिस वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है उसकी इच्छा होना स्वाभाविक है। रेल के बनने से पहले मनुष्य ने कभी रेल-यात्रा की इच्छा नहीं की। पर रेल बन जाने पर यह अब आवश्यक हो गई है।

२. आवश्यकताओं के लक्षण (Characteristics)

(क) आवश्यकतायें अनन्त होती हैं। एक आवश्यकता के सन्तुष्ट होने पर कोई दूसरी आवश्यकता हमें घेर लेती है। उसे सन्तुष्ट करने पर कोई तीसरी आवश्यकता

(ख) शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें—

(Physiological and Psychological needs)

शारीरिक आवश्यकताओं की तृप्ति हमारे शरीर की भूख को शान्त करती है और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की तृप्ति हमारे मन की भूख को। भोजन-वस्त्र की आवश्यकता शारीरिक आवश्यकता है और प्रेम, वात्सल्य, आश्रय आदि की आवश्यकता मनोवैज्ञानिक।

(ग) दैहिक तथा सामाजिक आवश्यकतायें—

(Biological and social needs)

जो इच्छायें केवल हमारी दैहिक तृप्ति करने की साधन बनती हैं वे दैहिक इच्छायें हैं और जो हमारे सामाजिक स्तर द्वारा निर्धारित होती हैं वे सामाजिक। काम की इच्छा दैहिक आवश्यकता है पर आत्मप्रदर्शन की इच्छा सामाजिक।

(घ) प्राथमिक और गौण आवश्यकतायें—

(Primary and Secondary needs)

यदि वर्गीकरण आवश्यकताओं की तीव्रता के आधार पर किया गया है। जिन आवश्यकताओं की तृप्ति के बिना हम नहीं रह सकते, उनकी तीव्रता अधिक होती है और वे प्राथमिक आवश्यकतायें मानी जाती हैं जैसे भोजन की आवश्यकता। पर जिन *आवश्यकताओं की सन्तुष्टि भविष्य पर टाली जा सकती है, उनकी तीव्रता कम होती है* और उन्हें हम गौण आवश्यकतायें कहते हैं जैसे घड़ी या कोट की आवश्यकता।

प्राथमिक आवश्यकताओं को अर्थशास्त्री आवश्यक आवश्यकता (Necessary) कहते हैं। उन्होंने इनको फिर तीन भागों में विभक्त किया है:

(१) जीवन रक्षक (Necessaties for life) जैसे भोजन आदि।

(२) निपुणता रक्षक (Necessaties for efficency) जैसे दूध-घी आदि।

(३) प्रतिष्ठा रक्षक (Conventional Necessaries) जैसे वस्त्र आदि।

गौण आवश्यकताओं को भी दो वर्गों में विभाजित किया गया है:

(१) आरामदायक (Comforts) जैसे छाता।

(२) विलासिता सम्बन्धी (Luxury) जैसे कार।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आवश्यकता का सम्बन्ध व्यक्ति से है, वस्तु से नहीं। कोई भी वस्तु स्वयं आवश्यक, आरामदायक अथवा विलसिता सम्बन्धी नहीं हो सकती। एक ही वस्तु की आवश्यकता एक व्यक्ति के लिये प्राथमिक हो सकती है ... दूसरे के लिये गौण। यदि मोटर सैर सपाटे के लिये चाहिये तो यह विलसिता की और उसकी आवश्यकता गौण है। इसके विपरीत एक डाक्टर के लिये जिसे

पर दूसरी उत्पन्न हो जाती है और फिर व्यक्ति को उसकी सन्तुष्टि के लिये उन चारों दशाओं में से गुजरना पड़ता है। इस प्रकार यह क्रिया-चक्र निरन्तर चलता रहता है।

५. निराशा (Frustration)

कभी-कभी हमारे सामने ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं जो हमारी कार्य-सिद्धि में बाधा डालते हैं। वे क्रिया-चक्र को पूर्ण नहीं होने देते। क्रिया-चक्र की यह अपूर्ति विफलता कहलाती है। आवश्यकता को पूर्ण होने में जो बाधायें पड़ती हैं वे विफलता को जन्म देती हैं और विफलता जननी है निराशा की।

निराशा के कई कारण हो सकते हैं जिनमें से कुछ प्रमुख कारणों का हम अध्ययन करेंगे। निराशा को जन्म देने वाली दशायें (Conditions that frustrate) दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं:

(क) बाहरी दशायें (Impersonal Conditions)।
(ख) आन्तरिक दशायें (Personal Conditions)।

(क) निराशा को उत्पन्न करने की बाहरी दशायें वे हैं जिन पर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता। वे कहीं बाहर से आकर व्यक्ति के क्रिया-चक्र में रुकावट उत्पन्न कर देती हैं और उसके प्रयास को असफल बना देती हैं। भूख लगने पर बच्चे ने चिल्लाना आरम्भ किया। मां उसकी ओर आकृष्ट हो गई और उसने उसे रोटी का टुकड़ा दे दिया। पर यदि कौवा उससे रोटी छीन ले जाय तो! कौवा शिशु के प्रयास में विफलता का बाहरी कारण बन गया। मुख्य तौर पर यह बाहरी दशायें तीन प्रकार की हैं:

(१) वस्तु द्वारा उत्पन्न दशा—

कई बार कई वस्तुयें हमारे क्रिया-चक्र के मार्ग में रुकावट बन जाती हैं। रेडियो पर कोई बढ़िया प्रोग्राम हो रहा है और हम उसे सुनने का आनन्द ले रहे हैं। इसी बीच यदि बिजली बन्द हो जाय तो हमें कितनी निराशा होती है। शिशु गुब्बारे से खेलना चाहता है पर हवा भरते समय गुब्बारा फट जाय तो उसका यह प्रयास विफल हो जाता है। इस प्रकार की कई वस्तुजन्य दशायें विफलता को उत्पन्न कर देती हैं।

(२) व्यक्ति द्वारा उत्पन्न दशायें—

क्रिया-चक्र के मार्ग में दूसरी रुकावट कोई व्यक्ति हो सकता है। हम किसी विषय पर अपने दृष्टिकोण से सोचते हैं और दूसरे अपने दृष्टिकोण से। इस प्रकार किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण और हमारे दृष्टिकोण में संघर्ष हो सकता है। ऐसी दशा में वह व्यक्ति हमारे मार्ग में बाधा बन सकता है और हमारे प्रयास को विफल कर सकता है।

६. परिवार और मानवीय आवश्यकतायें

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट है कि कई कारणों से व्यक्ति की इच्छाओं की पूर्ति [में] बाधा उत्पन्न हो जाती है और उसका प्रयास असफल हो जाता है। असफलता दुःख [उ]त्पन्न करती है और दुःख व्यक्ति को निराशावादी बना देता है। असफलता कभी-कभी [व्य]क्ति को यह प्रेरणा देती है कि वह येन-केन-प्रकारेण अपनी इच्छा को पूरा करे। [वह] बाधाओं को दूर करने का प्रयास करता है, उनसे संघर्ष करता है पर यदि वह ऐसा [क]रने में सफल नहीं होता तो वह कभी-कभी ऐसे उपाय भी अपनाने लगता है जो चरित्र [की] दृष्टि से बुरे हों। पर परिवार का विकास इसलिये हुआ है कि वह व्यक्ति को [चर]ित्र की दृष्टि से उन्नत करे। और वह ऐसा तभी कर सकता है जब वह व्यक्ति के [का]र्य की बाधाओं को दूर करने का प्रयास करे।

वास्तव में परिवार व्यक्ति की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये सदा प्रयत्न-[शी]ल रहता है। हमारी चौदहों मूल प्रवृत्तियों द्वारा उत्पन्न इच्छायें परिवार द्वारा तृप्त [हो] सकती हैं। परिवार यौन-सम्बन्धों पर आधारित एक समुदाय है, जिसमें बच्चों का [पा]लन-पालन होता है। हमारी आधार भूत प्रवृत्ति भोजन खोजने की है। परिवार [ही] हमारी भोजन की इच्छा को सन्तुष्ट करता है। नवजात शिशु पूर्णतः किसी भी [का]र्य को करने में असमर्थ होता है परिवार ही उसकी भोजन की इच्छा को पूरा करता है। [प]रिवार में सभी लोग तो जीविकोपार्जन नहीं करते फिर भी परिवार ही सभी की [भो]जन की आवश्यकता को पूर्ण करता है। परिवार यौन-सम्बन्धों पर आधारित होने [के] नाते काम-प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने का प्रमुख और सभ्य साधन है। परिवार में ही पुन-[रुत्पाद]नता सन्तुष्ट होती है। परिवार के बाहर सन्तान का होना असम्भव है। क्रिया-चक्र [में] बाधा पड़ने पर हम कभी-कभी किसी दूसरे की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करते [हैं।] शिशु गुब्बारे में वायु स्वयं नहीं भर सकता। वह माँ-बाप की सहायता चाहता है। [इस] प्रकार परिवार ही व्यक्ति को शरण प्रदान करता है।

इस प्रकार हमारी सभी शारीरिक आवश्यकतायें परिवार में ही सन्तुष्ट होती हैं। [हमा]री मानसिक इच्छाओं की पूर्ति में भी परिवार का महत्त्वपूर्ण हाथ है। शुद्ध और [पवि]त्र प्रेम केवल परिवार में ही मिल सकता है। आत्म प्रकाशन की हमारी प्रवृत्ति [परि]वार में ही तृप्त होती है।

सामाजिक परिस्थितियों, रीति-रिवाजों और फैशन से उत्पन्न हमारी सभी आव-[श्य]कतायें परिवार भली भाँति पूर्ण करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार [हमा]री सभी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। वह हमारे क्रिया-[चक्र] की बाधाओं को दूर करके हमारे प्रयास को सफल बनाने का प्रयत्न करता है।

---

(१) विवाह से पहले की अवस्था (Pre nuptial stage)—इसमें विवाह के दोनों पक्ष एक-दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। या तो भावी पति-पत्नी एक-दूसरे में यौनिक-आकर्षण अनुभव करते हैं या उनके माता-पिता को एक-दूसरे परिवार के लिये सामाजिक आकर्षण विवाह सम्बन्ध बनाने के लिये प्रेरित करता है।

(२) *विवाह की अवस्था (Nuptial stage)—विशेष परिवार के निर्माण की* दूसरी स्थिति यह है कि दोनों पक्षों में विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

(३) तीसरी अवस्था शिशु उत्पादन (Child bearing) की है। पति और पत्नी को यौनिक-सम्बन्धों का फल शिशुओं के रूप में मिलता है और ये शिशु उनके प्रेम सम्बन्धों को और भी दृढ़ बना देते हैं।

(४) चौथी अवस्था को प्रौढ़ता की दशा (Maturity stage) कहा जाता है। इसमें बच्चे बड़े होकर स्वयं अपने-अपने पावों पर खड़े हो जाते हैं। माता-पिता का उनके प्रति उत्तरदायित्व कम हो जाता है। कुछ देशों में बच्चे इस दशा में पहुंचकर माता-पिता से अलग होकर अपना नया घर अथवा परिवार बनाते हैं और भारत जैसे कुछ देशों में वे माता पिता के साथ रहकर उसी परिवार के सदस्य बने रहते हैं।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि परिवार के पांच प्रमुख तत्त्व हैं। यही पांच तत्त्व मिलकर परिवार की इकाई बनते हैं।

(१) यौन-सम्बन्ध।
(२) विवाह अथवा कोई और प्रथा जिसके द्वारा यौन-सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं और दृढ़ रखे जाते हैं।
(३) परिवार के सदस्यों में आर्थिक हितों की एकता.
(४) परिवार का एक सम्मिलित घर
(५) प्रत्येक परिवार का एक नाम होता है जिसके द्वारा वंश की पहचान की जाती है। यह नाम माता के नाम से भी हो सकता है और पिता के नाम से भी।

२. परिवार के लक्षण (Characteristics)

(क) सर्वव्यापकता (universality)—सभी मानवीय समुदायों में से परिवार सर्वव्यापक समुदाय है। समाज के सभी अंगों और सभी भागों में परिवार का विकास हुआ है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी परिवार का सदस्य है।

(ख) सामाजिक संगठन का केन्द्र (Nuclear position in social structure)—प्रत्येक समाज का ढांचा परिवार के आधार पर स्थित है। परिवार [illegible] का केन्द्र है। समाज परिवारों का संघ है।

(ग) भावनात्मक आधार (Emotional Basis)—परिवार का आधार मनुष्य की भावनायें हैं। मनुष्य यौनिक, वात्सल्य और स्नेह की भावनाओं की तृप्ति चाहता है। परिवार का आधार यही भावनाएँ हैं।

(घ) निर्माण सम्बन्धी प्रभाव (Formative Influences)—परिवार का ध्येय अपने सदस्यों की बुद्धि, चरित्र, व्यक्तित्व का निर्माण करना है।

(ङ) सदस्यों का उत्तरदायित्व (Responsibility of members)—परिवार के प्रति उसके सदस्यों का बहुत बड़ा कर्तव्य है। सदस्यों को हर समय परिवार की उन्नति के लिये और उसके हितों की रक्षा के लिये तत्पर रहना पड़ता है।

(च) सामाजिक नियमन (Social Regulation)—परिवार को बहुत ही दृढ़ सामाजिक तथा कानूनी नियमों के अधीन रहना पड़ता है। विवाह सम्बन्धों के नियमों का निर्माण विवाह पक्षों के हाथ में न होकर समाज के हाथ में है। इसी प्रकार सदस्यों में सम्पत्ति के विभाजन के नियम भी समाज ही बनाता है।

(छ) सीमित परिमाण (Limited Size)—परिवार के सदस्यों की संख्या सीमित रहती है। परिवार रक्त और यौन सम्बन्धों पर आश्रित एक समुदाय है इस लिये उसके सदस्यों की संख्या निश्चित और सीमित होना स्वाभाविक है।

(ज) स्थायित्व तथा अस्थायित्व (Permanent and temporary nature)—परिवार का सबसे रोचक लक्षण यह है कि वह स्थाई और अस्थाई दोनों है। एक संस्था के रूप में परिवार स्थाई है, अमर है। वह हमारे पूर्वजों से आरम्भ हो कर आज तक चला आ रहा है और हमारे बाद भी यह जीवित रहेगा। पर एक समुदाय के रूप में परिवार अस्थाई है। हमारा परिवार इस समय जिन सदस्यों के द्वारा बना है, हो सकता है आज के २० वर्ष बाद वे सदस्य न रहें।

३. परिवार की उत्पत्ति (Origin of family)

परिवार की उत्पत्ति क्यों हुई इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस सम्बन्ध में कुछ विभिन्न मतों का उल्लेख आवश्यक है।

(क) काम-वासना सम्बन्धी सिद्धान्त (Sex-Theory of family)—

कुछ विद्वानों का मत है कि परिवार का उदय इसलिये हुआ कि प्रकृति ने मनुष्य में कामवासना भर दी है। विपरीत लिंग के व्यक्ति इस वासना की तृप्ति के लिये एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं और इसी यौनाकर्षण से ही परिवार का उद्गम होता है। इस मत के प्रवर्तक यह कहते हैं कि परिवार की उत्पत्ति से पहले मनुष्य समूहों में रहते थे। स्त्री-पुरुष का सम्पर्क केवल काम की तृप्ति के लि

भी स्त्री-पुरुष में यह यौन सम्बन्ध स्थापित हो सकता था। विद्वानों ने इसे सामूहिक वैवाहिक सम्बन्धों की दशा का नाम दिया है।

पर वास्तविकता इस सिद्धान्त का खंडन करती है। वैवाहिक सम्बन्धों के निर्माण में भावनाओं का बहुत महत्व है। पुरुष प्रत्येक स्त्री से विवाह करने को तैयार नहीं होता यद्यपि उसकी कामवासना किसी भी स्त्री से सन्तुष्ट हो सकती है। इसी प्रकार स्त्री प्रत्येक पुरुष से विवाह करने को उद्यत नहीं होती। पुरुष केवल उसी स्त्री से विवाह करना चाहता है जिसे वह प्रेम करता है। स्त्री केवल उसी पुरुष को पति बनाना चाहती है जो उसके हृदय पर अपना अधिकार जमा लेता है। पशुओं में भले ही नर मादा काम वासना की तृप्ति के लिये एकत्रित हों पर मनुष्यों में स्त्री पुरुष के संयोग का कारण केवल यौनिक इच्छा नहीं हो सकती। मेकलैनिन का मत है कि स्त्री भी एक सम्पत्ति है और पुरुष उसे दूसरों से बचा कर रखना चाहता है। भले ही पत्नी-पति की सम्पत्ति न हो, पर वह उसे दूसरे के हाथ जाते कभी सहन नहीं कर सकता। न ही पत्नी यह सहन कर सकती है कि उसका पति किसी दूसरी स्त्री का बन जाय और इसका कारण यौनिकता नहीं हो सकता। इसलिये काम-वासना सम्बन्धी यह सिद्धान्त तर्क संगत नहीं लगता।

(ख) अधिकारवादी सिद्धान्त (Possession Theory of family)—

इस सिद्धान्त के अनुसार परिवार का आधार अधिकार है। आरंभ में मनुष्य बहुत ही बर्बर तथा जंगली था। प्रत्येक मनुष्य अपने से कमजोर को अपने अधीन करके ही अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया करता था। डारविन के अनुसार ऐसी दशा में शक्तिशाली व्यक्ति दुर्बल पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता है। प्राचीन काल में पुरुषों ने अपनी शक्ति के बल पर स्त्रियों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया होगा और फिर इसी के कारण परिवार की उत्पत्ति हो गई होगी।

तथ्य इस सिद्धान्त के भी प्रतिकूल है। हम देखते हैं कि प्रारंभिक परिवारों में पुरुष की अपेक्षा स्त्री का अधिकार अधिक था। प्राचीन परिवार मातृसत्ता पर आधारित थे, इसलिए यह कहना कि पुरुष के स्त्री पर अधिकार स्थापित करने के परिणामस्वरूप परिवार उत्पन्न हुआ, असत्य है। दूसरे हम यह देखते हैं कि पत्नी और पति का सम्बन्ध दासी और स्वामी का न होकर प्रेमिका और प्रेमी का है। प्रेम में एक दूसरे पर अधिकार अवश्य होता है पर उस अधिकार का आधार शक्ति नहीं। अतः परिवार का यह अधिकारवादी सिद्धान्त अमान्य है।

(ग) आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा का सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक यह मानते हैं कि प्रारंभिक परिवार मातृसत्ता पर आधारित थे। माता के अधिकार पिता के समान अथवा उससे अधिक होते थे। कभी-कभी तो

निश्चय करना कि व्यक्ति का पिता कौन है, बहुत कठिन था। स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों में प्रेम अथवा ईर्ष्या की भावना अनुपस्थित था। धीरे-धीरे पुरुष ने आर्थिक साधनों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अतः स्त्री को आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पुरुष का साथ खोजना पड़ा। इसी प्रकार स्त्री को सामाजिक सुरक्षा की भी आवश्यकता पड़ी और यही आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा परिवार की उत्पत्ति का कारण बनी। ब्रिफाल्ट (Brifault) इस मत के प्रमुख प्रवर्तकों में से हैं।

परिवार का यह सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है। इसमें विरोधाभास है। इस मत के प्रवर्तक एक ओर तो यह कहते हैं कि प्रारम्भिक परिवार मातृसत्ता पर आधारित थे और दूसरी ओर यह कहते हैं कि बाद में पुरुष ने आर्थिक साधनों पर अधिकार स्थापित कर लिया जिससे परिवार की उत्पत्ति हुई। यदि परिवार पहले ही था तो फिर दोबारा परिवार की उत्पत्ति कैसी? यह सिद्धान्त यह तो बता सकता है कि परिवार का रूप मातृसत्तात्मक से पितृसत्तात्मक क्यों हो गया। अर्थात् उस पर स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का शासन क्यों हो गया, पर यह परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ नहीं बता सकता।

(घ) विकासवादी सिद्धांत (Evolution Theory of family)—

ो का अधिकार कम होता जा रहा है। वर्तमान युग की सबसे बड़ी
ों के समान अधिकार देने की है। परिवार पर धार्मिक नियन्त्रण
है। इसी प्रकार वैवाहिक प्रसंविदा (Marriage Contract)
ाधिकार कम होता जा रहा है।

५. वर्गीकरण (Classification)

वर्गीकरण कई दृष्टिकोणों से किया जाता है।
ह सम्बन्धों के आधार पर:—

स्थायी (Permanent)
अस्थायी (Temporary)

तथा

एक विवाह-प्रथा (Monogamy)
बहु विवाह-प्रथा (Polygamy)
समूह विवाह-प्रथा (Group-marriage)

ा-साथी के चुनाव के आधार पर:—

माता-पिता द्वारा चुनाव

स्थायी तथा अस्थायी, एक विवाह तथा बहु विवाह, माता पिता द्वारा चुनाव तथा [स्वयं] चुनाव, अपने समूह में तथा अन्य समूह में विवाह और मातृगृहात्मक तथा [पितृ]गृहात्मक परिवारों की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं।

समूह विवाह-प्रथा अब इतिहास का विषय रह गया है। प्राचीन काल में स्त्री [तथ]ा पुरुष समूहों में रहते थे। एक समूह का प्रत्येक पुरुष दूसरे समूह की प्रत्येक स्त्री [से] यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। दूसरे शब्दों में एक समूह का प्रत्येक पुरुष [दूस]रे समूह की प्रत्येक स्त्री का पति था।

सामान्यतः मातृसत्तात्मक परिवार मातृगृहात्मक भी होते हैं और पितृसत्तात्मक [पि]तृगृहात्मक भी। मातृसत्तात्मक परिवारों में माता घर की स्वामिनी होती है। [वि]वाह के उपरान्त पुरुष को पत्नी के घर लाया जाता है। घर का प्रबन्ध स्त्री [अ]थवा स्त्री का कोई रक्त-सम्बन्धी पुरुष (भाई, पिता आदि) करता है। वंश का [ना]म माता के नाम पर चलता है, और सामान्यतः सम्पत्ति का विभाजन परिवार [क]ी पुत्रियों में होता है। अफ्रीका के हब्शियों के अधिकांश परिवारों का संगठन इसी सिद्धान्त के अनुकूल है। ट्रावनकोर कोचीन के राजघराने आज भी मातृक सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं।

इसके विपरीत पैतृक सिद्धान्त पर आधारित परिवारों में पिता ही घर का स्वामी है। वही परिवार का शासक है। स्त्री की स्थिति केवल मन्त्री के समान है। विवाहोपरान्त स्त्री को पति के घर लाया जाता है। वंश का नाम पुरुष के नाम से चलता है, और सम्पत्ति का विभाजन केवल परिवार के पुत्रों में होता है। अब शिक्षा के विकास के परिणामस्वरूप पिता के धन में पुत्रियों को भी भाग दिये जाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। पितृसत्तात्मक परिवार संसार के लगभग प्रत्येक भाग में बहुलता से हैं।

विभाजित और सम्मिलित परिवारों के सम्बन्ध में हम अगामी खण्ड में सविस्तार बतायेंगे।

६. सम्मिलित तथा विभाजित परिवार

(क) सम्मिलित परिवार—

सम्मिलित अथवा संयुक्त परिवार उतने ही पुराने हैं, जितने पुराने स्वयं परिवार है। आदि काल में उत्पादन के साधन बहुत थोड़े थे और उनका शोषण करना कठिन था, अतः जीविकोपार्जन में एक-दूसरे के सहयोग की आवश्यकता होती थी। ... का जीवन खतरों से घिरा हुआ था। लोग जंगलों में रहते थे और

(३) संयुक्त परिवार व्यक्ति की महत्त्व-पूर्ण-पाठशाला है। इसमें छोटे सदस्य बड़ों के अनुभव को जानकर उनसे लाभ उठा सकते हैं।

दोष—

(१) ये परिवार बहुत से घरेलू झगड़ों को जन्म देते हैं। जहाँ अधिक लोग रहेंगे, वहाँ उनके विचारों में भेद होना स्वाभाविक है। ये मतभेद घर के वातावरण को अशान्त और दुःखमय बना देते हैं। घर के सदस्यों में वैमनस्य हो जाता है, जिससे कई सामाजिक दोष उत्पन्न होते हैं।

(२) इन परिवारों के आलसी और कामचोर सदस्य परिश्रमी सदस्यों पर भार बन जाते हैं। कुछ लोग परिवार के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते, और वे कर्तव्य विमुख होकर अविवेकी हो जाते हैं। कभी-कभी ऐसे सदस्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये परिवार को ऋणी बना देते हैं। वे सोचते हैं कि ऋण तो परिवार चुकायेगा, अतः क्यों न ऋण लेकर जीवन को आनन्दमय बनाया जाय।

(३) संयुक्त परिवार में विवाह, मुण्डन, मृत्यु आदि पर धन का बहुत अपव्यय करते हैं।

(४) ये परिवार व्यक्तित्व के विकास में बाधक हैं। इनमें व्यक्ति को व्यक्तिगत विषयों में भी पर्याप्त स्वतन्त्रता नहीं होती। परिवार के बड़े सदस्यों के बच्चे बड़े और छोटे के बच्चे छोटे माने जाते हैं। इससे छोटे की सन्तान में "आत्महीनता की भावना" उत्पन्न हो जाती है। इन परिवारों में व्यक्ति को सदा ही बड़ों की आज्ञा पालन के लिये प्रस्तुत रहना पड़ता है, भले ही वह आज्ञा उचित हो, या अनुचित। इस प्रकार इनमें व्यक्ति की इच्छाओं का दमन होता है।

(५) इन परिवारों में बालकों की शिक्षा पर दूषित प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः बालकों की देख-रेख बूढ़े लोग करते हैं। बूढ़े लोगों की जीवन की प्रणाली, नैतिक स्तर, आचार-विचार प्राचीन पारिवारिक दशाओं के आधार पर बने हैं। आधुनिक युग में [illegible] उनके [illegible] बालकों के विचार और [illegible] कटु [illegible] होती है। [illegible] जाते हैं।

(६) बड़े-बड़े परिवार का कर्ता अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए परिवार की सम्पत्ति का दुरुपयोग करता है।

(७) आधुनिक [illegible]

है। यौन-सम्बन्धी भावना-ग्रंथियों के संबंध में हम 'चरित्र के विकास'-नामक अध्याय सविस्तार बतायेंगे।

(८) संयुक्त परिवार आर्थिक उन्नति में भी बाधा है। व्यक्ति को जब यह विश्वास हो कि उसे रोटी-कपड़ा सुगमता से मिल रहा है, तो वह क्यों अधिक परिश्रम करेगा। इसके साथ ही व्यक्ति यह भी सोच सकता है कि उसके परिश्रम का फल सब लोग बांट कर खायेंगे, तो वह दूसरों से अधिक परिश्रम क्यों करे? औद्योगिक क्रांति के उपरान्त मनुष्य का काम मशीनों ने ले लिया है। बड़े-बड़े उत्पादक केन्द्र स्थापित हो गये हैं और मनुष्य को रोजी कमाने के लिये घर से दूर जाना पड़ता है पर कभी-कभी परिवार के दूसरे सदस्यों का मोह उसे ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता।

(९) ये परिवार बाल-विवाह-प्रथा को भी प्रोत्साहन देते हैं। व्यक्ति को विवाह तभी करना चाहिये, जब वह स्वयं परिवार का पालन-पोषण करने के योग्य हो जाय, पर संयुक्त परिवारों में प्रत्येक व्यक्ति के परिवार का पोषण होता ही है, अत: बच्चों का विवाह होना स्वाभाविक है।

(१०) संक्रामक रोगों के फैलने पर संयुक्त परिवार को अधिक हानि होने की सम्भावना रहती है।

(ख) विभाजित परिवार—

संयुक्त परिवारों के इन्हीं दोषों के कारण उनकी प्रवृत्ति अब विभक्त होने की है। प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत विषयों में पूर्ण स्वतन्त्रता चाहता है। वह किसी भी [illegible] के हस्तक्षेप को सहन करने को तैयार नहीं। इसलिये विवाह के उपरान्त नव [illegible] माता पिता से अलग होकर अपना नया घर बसाता है। व्यक्तिगत परिवार [illegible] विशेषता यह है कि इसकी सदस्यता एक दम्पति और उनकी सन्तान तक सीमित [illegible]

गुण—

(१) विभाजित अथवा व्यक्तिगत परिवारों के सदस्य अपने उत्तरदा[illegible] समझते हैं। परिवार के पालन का भार गृहस्वामी और उसकी पत्नी पर [illegible] उन्हें यह ज्ञान रहता है कि यदि वे परिश्रम नहीं करेंगे तो उनके लिये अ[illegible] अपने बच्चों का पेट पालना कठिन हो जायगा। अत: उनमें आलस्य नहीं आ[illegible] मरम्मता ही आती है। इसके साथ ही वे यह भी जानते हैं कि अपने [illegible] फल वे स्वयं भोग करेंगे, दूसरा उसमें से बांट नहीं सकता, इसलिये वे [illegible] करते हैं।

(२) इन परिवारों में व्यक्तित्व का विकास होता है। स्वतन्त्रता, [illegible] [illegible] का विकास इन्हीं में सम्भव है।

(३) बच्चों की शिक्षा उनके माता-पिता के हाथ में होती है। वे उन्हें जैसा बनाना चाहें, वैसा बना सकते हैं।

(४) इन परिवारों में घरेलू झगड़ों का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये घर का वातावरण शान्त और सुखदायक होता है।

(५) व्यक्तिगत परिवारों के सदस्य व्यक्तिगत विषयों में पर्याप्त स्वतन्त्रता का भोग करते हैं। उन्हें सदा ही किसी बड़े की आज्ञा पालन करने के लिये कटिबद्ध नहीं रहना पड़ता। प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार का स्वयं कर्ता है। वह अपने परिवार को जैसा चलाना चाहे, वैसा चला सकता है।

(६) इन परिवारों में पति-पत्नी के प्रेम में वृद्धि होती है। पति और पत्नी सदा एक साथ रहते हैं और एक दूसरे के सहयोग से घर का प्रबन्ध करते हैं। उन्हें रात में चोरों की भाँति दबे पाँव एक दूसरे से मिलना नहीं पड़ता। इस प्रकार उनमें यौन-सम्बन्धी भावना ग्रन्थि नहीं पड़ सकती।

दोष—

(१) परिवार जब विभक्त होने लगते हैं, तो उस समय सम्पत्ति के विभाजन का भी प्रश्न उठता है, जिससे कई प्रकार के झगड़े उत्पन्न हो जाते हैं और मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे सपत्ति का बहुत ही अपव्यय होता है।

(२) विभक्त परिवारों में यदि दुर्भाग्य-वश जीवकोपार्जन करनेवाले सदस्य की मृत्यु हो जाय और यदि वह अपने पीछे पर्याप्त सम्पत्ति न छोड़े तो विधवा और अनाथ बच्चों का भरण-पोषण असंभव हो जाता है, जिसके कारण उनका जीवन दूभर हो जाता है। इसी प्रकार बीमारी, बेकारी, वृद्धावस्था या किसी आकस्मिक विपत्ति में पड़कर इन परिवारों के सदस्य बहुत कष्ट पाते हैं।

(३) इन परिवारों के सदस्य बूढ़ों के अनुभवों का विशेष लाभ नहीं उठा सकते, इस प्रकार शिक्षण की दृष्टि से ये संयुक्त परिवारों से घटिया हैं।

(४) अत्यधिक स्वतंत्रता के कारण परिवार के सदस्यों में उच्छृंखलता और अविवेक आने की सम्भावना रहती है। वह व्यक्ति जो किसी के प्रति उत्तरदायी न हो, मनमानी भी कर सकता है। इससे वह अपने परिवार के लिये कष्टों और दुःखों का कारण बन सकता है।

७. भारतीय परिवार

(क) विशेषतायें—

अधिकांश भारतीय परिवार माता-पिता से नियमित एक-स्थायी-विवाह के आधार पर निर्मित पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार हैं। प्राचीन काल में स्त्री-पुरुष

अपनी इच्छानुसार जीवन-साथी खोजते थे। धीरे-धीरे पुत्र के लिये पत्नी अथवा पुत्री के लिये पति चुनने का अधिकार माता-पिता ने अपने हाथ में ले लिया। आज भी भारतीय परिवारों में पुरुष अथवा स्त्री को अपना जीवन-साथी खोजने की पर्याप्त स्वतन्त्रता नहीं है। आधुनिक काल में यह प्रवृत्ति अवश्य है कि इस सम्बन्ध में पुत्र अथवा पुत्री को स्वतन्त्रता दी जाय, पर यह प्रवृत्ति केवल पढ़े-लिखे और प्रगतिशील परिवारों तक ही सीमित है। अतः अधिकांश विवाह माता-पिता के द्वारा ही निश्चित होते हैं।

भारत में विवाह को एक धार्मिक संस्था माना जाता है। पति-पत्नी का सम्बन्ध शारीरिक न होकर आत्मिक है। पाश्चात्य देशों की भांति हमारे यहां विवाह को एक ठेका मात्र नहीं समझा जाता। अतः भारत के अधिकांश विवाह स्थायी हैं। भारतीय मुसलमानों, ईसाइयों और पारसियों में तलाक की प्रथा अवश्य है, फिर भी इसका उपयोग कम ही होता है। हिन्दू विवाह कानून के द्वारा पति-पत्नी को कुछ विशेष दशाओं में एक दूसरे को छोड़ने का अधिकार अवश्य दिया गया है, पर उन विशेष दशाओं का उत्पन्न होना बहुत कठिन है। अतः भारतीय परिवारों का आधार स्थायी विवाह है।

भारत में स्थायी विवाह-प्रथा तो है ही, एक विवाह-प्रथा भी है। हिन्दू धर्म के अनुसार एक समय में एक से अधिक विवाह करना बुरा है। हिन्दू विवाह कानून के द्वारा भी बहु विवाह को अपराध घोषित किया गया है। पारसियों और ईसाइयों में भी एक विवाह प्रथा ही प्रचलित है। इस्लाम धर्म अपने अनुयायियों को एक साथ चार विवाह तक करने की आज्ञा देता है। पर एक तो वे संख्या में कम हैं, दूसरे आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयों के कारण उनके अधिकांश परिवारों में भी एक विवाह-प्रथा प्रचलित है।

भारतीय परिवार पितृसत्तात्मक है। इनमें घर का प्रबन्ध घर के आयु के अनुसार सबसे बड़े पुरुष के हाथ में होता है। वही परिवार का कर्ताधर्ता है। विवाह के उपरान्त पत्नी को पति के घर में रहना पड़ता है और वहां उसकी स्थिति पति के मंत्री जैसी होती है। वंश का नाम पुरुष के नाम से चलता है। विवाह के उपरांत पत्नी की भी जाति वही हो जाती है, जो उसके पति की होती है। कुछ वर्ष पहले परिवार की सम्पत्ति का विभाजन केवल परिवार के पुत्रों में ही होता था। अब हिन्दू उत्तराधिकार कानून के अनुसार पुत्रियों को भी पुत्र की भांति ही पिता की सम्पत्ति में समान भाग दिये जाने का नियम बना दिया गया है। त्रावनकोर कोचीन के राजघराने मातृसत्तात्मक हैं, पर भारत के अधिकांश परिवार पितृसत्तात्मक ही हैं।

भारतीय परिवारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे संयुक्त हैं। हमारे यहां अधिकांश युवक ऐसे हैं, जो विवाह के उपरांत माता-पिता से अलग नहीं होते, बल्कि

ही इस छाया में रहना अपना सौभाग्य समझते हैं। शिक्षित परिवारों की प्रवृ होने की अवश्य है, पर वे संख्या में बहुत ही कम हैं।

भारत में सम्पत्ति-विभाजन की दो विधियाँ प्रचलित हैं। बंगाल, आसाम व भारत के कुछ प्रदेशों में दायभाग प्रणाली प्रचलित है। इस प्रणाली के अनुस अपने जीवन-काल में सम्पत्ति का अखण्ड स्वामी है, पर शेष भारत में मिताक्ष है, जिसके अनुसार सन्तान भी पिता की सम्पत्ति के समानाधिकारी हैं। यदि सम्पत्ति का अपव्यय करना चाहे तो सन्तान न्याय की शरण ले सकती है, पर दा प्रणाली में उसे यह अधिकार नहीं।

भारत के अधिकांश परिवार बहिर्विवाह के आधार पर संगठित होते हैं। हिन् अपने पारिवारिक समूह तो क्या सगोत्र समूहों में भी विवाह निषिद्ध है।

(ख) भारतीय परिवारों में संबंधः—

प्रत्येक परिवार में मुख्यतः तीन अंग होते हैं—पति, पत्नी तथा सन्तान। भार तीनों के संबंधों के विषय में भी कुछ बता देना उचित है।

(१) पति-पत्नी का संबंधः—भारत में पति-पत्नी का संबंध बड़ा पवित्र मान । विवाह के समय दूसरे देशों की भाँति हमारे यहाँ पति-पत्नी में कोई ठेक ता। भारतीय इस संबंध को अनादि, अनन्त और अटूट समझते हैं। पत्नी अर्धांगिनी है, पति इसके बिना अधूरा है। दोनों गृहस्थ रूपी गाड़ी के दो और दोनों मिलकर परिवार रूपी सामाजिक इकाई को जन्म देते हैं। यदि कहें कि पति-पत्नी ऐसे दो आधार स्तम्भ हैं, जिन पर परिवार का भवन टिका तो कोई अत्युक्ति न होगी। दोनों में परस्पर प्यार तथा मानसिक एवं भौतिक नितान्त आवश्यक है। परिवार तभी सुखी तथा समृद्ध हो सकता है जब पुरुष में सहयोग तथा प्रेम हो।

(२) माता-पिता तथा संतान का संबंधः—परिवार की सर्वाधिक सशक्त आधार- ममता, जो माता-पिता को अपनी सन्तान के प्रति होती है। भारतीय माता- तान से सदा प्रेम-पूर्वक व्यवहार करने का प्रयत्न करते हैं। इस संबंध में गया है—

> लालयेत् पञ्चवर्षाणि, दशवर्षाणि ताड़येत्।
> प्राप्तेतु षोड़षे वर्षे, पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

पाँच वर्ष की आयु तक शिशु को खूब लाड़-प्यार करना चाहिये और फिर दस दण्ड के द्वारा उसका नियन्त्रण करना चाहिये। बालक जब १६ वर्ष का हो उससे मित्रों जैसा व्यवहार करना चाहिये।"

अब यह विचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है कि बालक के साथ हर समय मित्रों जैसा
ार करना ही उचित है। हाँ, अनुचित लाड़-प्यार उसे खराब कर सकता है।
-पिता का यह कर्तव्य है कि वे बालक में कभी भी यह भावना न आने दें कि उसे
त प्रेम नहीं मिल रहा है। बालकों का भी यह कर्तव्य है कि वे माता-पिता की
ा का सहर्ष पालन करें।

(३) बच्चों का आपसी सम्बन्ध.—परिवार की सुख शान्ति पर बच्चों के आपसी
का बहुत प्रभाव पड़ता है, विशेषकर सम्मिलित परिवारों में यह सबंध बहुत
य का है। सम्मिलित परिवारों में कभी-कभी बच्चों के झगड़ों से परिवारों के
ाजित होने तक की नौबत आ जाती है। माता-पिता तथा परिवार के अन्य बड़े
ों का यह कर्तव्य है कि वे बच्चों में कभी ईर्ष्या अथवा हानिकारक प्रतियोगिता
न्न न होने दें, अन्यथा सबल तथा अधिक लाडले बच्चे दूसरों के अधिकारों का
क्रमण करके उनके जीवन को कटु बना देते हैं। माता-पिता को सदा सभी बच्चों
मान व्यवहार करना चाहिये, ताकि वे यह समझ सकें कि वे माता-पिता के प्यार
शिष के समान रूप से साझीदार हैं।

विवाह

सभी प्रकार की मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए परिवार की नितान्त आवश्यकता है। परिवार के द्वारा ही मनुष्य के जीवन की रक्षा होती है। यही उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, यौनिक, वात्सल्य, प्रेम, भोजन आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। पर परिवार का आधार विवाह है। विवाह का रूप भले ही कैसा हो, पर उसके बिना परिवार का निर्माण नहीं हो सकता।

प्रश्न यह है कि विवाह किसे कहते हैं ? विवाह स्त्री और पुरुष के बीच हुआ वह ठेका है, जिसके द्वारा वे एक दूसरे से यौनिक सम्बन्ध स्थापित करते और उस सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान के पालन का उत्तरदायित्व उठाते हैं। हिन्दुओं में विवाह को ठेका न समझकर धार्मिक कृत्य माना जाता है। फिर भी यह तो सत्य है कि विवाह के समय हिन्दू स्त्री और पुरुष अग्नि को साक्षी बनाकर एक दूसरे को कुछ वचन देते हैं। ऊपर ठेका शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में किया गया है। विवाह के समय दोनों में वचनों का आदान-प्रदान होता है। प्रस्तुत अध्याय में हम विवाह के सम्बन्ध में सविस्तार अध्ययन करेंगे।

१. विवाह का वर्गीकरण

विवाह का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है।

(क) ठेके के समय के आधार पर:—

(१) स्थायी

(२) अस्थायी

(ख) पक्षों के चुनाव के आधार पर:—

(१) माता-पिता के द्वारा चुनाव

(२) स्वयं चुनाव

(ग) पति अथवा पत्नी की संख्या के आधार पर: —

(१) एक विवाह

(२) बहु-विवाह

(३) समूह-विवाह

(घ) चुनाव क्षेत्र के आधार पर:—

(१) अपने समूह में चुनाव

(२) अन्य समूहों से चुनाव

(ङ) पारिवारिक सेवों के आधार पर:—

(१) पुरुष का स्त्री के घर रहना अर्थात् मातृगृहात्मक

(२) पितृ गृहात्मक

(च) हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार:—

(१) ब्राह्म
(२) दैव
(३) आर्ष
(४) प्राजापत्य
(५) आसुर
(६) गान्धर्व
(७) राक्षस
(८) पैशाच

पहले पाँच आधारों पर बनाये गये विवाहों के सम्बन्ध में हम परिवार के अध्याय में बता आये हैं।

ब्राह्म विवाह में माता-पिता अग्नि के समक्ष ऐसे विद्वान्, योग्य और सुशील पुरुष को कन्या सौंपते हैं, जिसको कन्या ने पसन्द किया हो और जो कन्या को चाहता हो।

विस्तृत यज्ञ में विद्वानों अथवा ब्राह्मणों को बुलाकर उनमें याज्ञिक अथवा कोई कठिन कार्य करवाकर वहाँ विजेता को कन्या देना दैव विवाह कहलाता है।

माता-पिता के द्वारा वर को धर्म-पूर्वक कन्या सौंप देने की रीति को आर्ष विवाह कहते हैं।

प्राजापत्य विवाह में कन्या और वर को यज्ञशाला में बुला कर उनके सामने "तुम दोनों मिलकर गृहस्थाश्रम के धर्मों का पालन करो" ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण करा दिया जाता है।

वर की जाति वालों और कन्या को यथाशक्ति धन देकर होमादि विधि कर कन्या देना आसुर विवाह कहलाता है।

वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में अपने को पति-पत्नी मान लेना, ऐसी भावना से हुआ विवाह गान्धर्व विवाह कहलाता है।

मार पीट कर और हत्या-हरण करके, कन्या के कुटुम्बियों का विदारण कर रोती, चिल्लाती, काँपती, भयभीत कन्या का बलात्कार हरण करना राक्षस विवाह माना जाता है।

सोती हुई, पागल अथवा नशा पीकर उन्मत्त कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर यह सब विवाहों से नीच पैशाच विवाह है ।

हिन्दू धर्म में पहले चार विवाह उत्तम माने गये हैं। शास्त्रों ने नीचे के चार ाहों की निन्दा की है ।

विवाह के लिये योग्यतायें (Qualifications for marriage.)

ाह की योग्यतायें तीन प्रकार की हैं-–

(क) क़ानूनी (Legal)
(ख) प्राणी-शास्त्रीय (Biological)
(ग) आयु-सम्बन्धी (Age)

) क़ानूनी योग्यतायें:–

लगभग सभी देशों में विवाह-सम्बन्धी क़ानून बनाये गये हैं और उन कानूनों के रुद्ध आचरण करना अपराध घोषित किया गया है । इन क़ानूनों का मुख्य ध्येय वाह के बिना यौनिक सम्बन्धों को रोकना है । विवाह से रहित यौनिक सम्बन्धों रा उत्पन्न सन्तान का उत्तरदायित्व सामान्यतः न तो पुरुष उठाना चाहता है और न ी । इससे सामाजिक दोषों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है ।

क़ानून की दृष्टि से विवाह एक ठेका है, जिसमें दोनों पक्ष एक-दूसरे से प्रेम, हानुभूति, सहायता आदि करने के लिये वचन-बद्ध होते हैं । एक पक्ष यदि उन वचनों ा पालन नहीं करता, तो दूसरे को यह अधिकार रहता है कि वह न्यायालय से प्रार्थना रके दूसरे पक्ष से वचनों का पालन करवावे । विशेष परिस्थितियों में वह सम्बन्ध-च्छेद, जिसे तलाक़ (Divorce) कहा जाता है, के लिये भी प्रार्थना कर सकता । पति-पत्नी के पृथक होने पर अनाथी सन्तान के लिये जीवन दूभर हो जाता है । लिये हमारे देश में स्थायी विवाह को उत्तम माना जाता है । फिर भी अब हिन्दू-वाह-कानून के द्वारा तलाक़ की आज्ञा दे दी गई है ।

भारत में विवाह के लिये कौन-कौन सी क़ानूनी योग्यतायें हैं, इस सम्बन्ध में हम न्दू विवाह-कानून के खण्ड में सविस्तार बतायेंगे ।

ख) प्राणी-शास्त्रीय योग्यतायें:—

प्रकृति ने मनुष्य में कामुकता की भावना भर दी है । स्त्री और पुरुष दोनों अपने ीवन-साथी में अपनी इस भावना की तृप्ति चाहते हैं । अतः दोनों पक्षों का शारीरिक ृष्टि से स्वस्थ होना अनिवार्य है; नहीं तो इससे कभी-कभी कई सामाजिक दोषों की त्पत्ति होगी । हमारे विवाह में भी एक ऐसा क़ानून होना चाहिए, जिसके अनुसार

...ाह से पहले हरएक को किसी डॉक्टर से जाँच करा कर ऐसा प्रमाण-पत्र लेना ...नवार्य हो कि वह यौनिक अथवा प्राणी-शास्त्री दृष्टि से योग्य है।

यौनिक दृष्टि से स्वस्थ स्त्री प्राणी-शास्त्रीय दृष्टि से विवाह के योग्य तभी होती ..., जब उसका मासिक स्राव (menses) आने लगता है। ऐसा लगभग १२ से १५ ...र्ष की आयु में होता है। फिर भी १७-१८ वर्ष की आयु तक उसकी बुद्धि और शरीर इतने परिपक्व नहीं होते कि वह वैवाहिक उत्तरदायित्व को सम्हाल सके।

इसी प्रकार यौनिक दृष्टि से स्वस्थ पुरुष प्राणी-शास्त्रीय दृष्टि से तभी विवाह के ... होता है, जब उसका वीर्य परिपक्व हो जाय और वह यौनिक कार्यों में सक्रिय ... लेने के योग्य हो जाय। ऐसा लगभग १५-१८ वर्ष की आयु तक होता है, फिर विवाह २०-२५ वर्ष की आयु में ही होना अच्छा है। ताकि वह वैवाहिक उत्तर- ...यित्व सम्हालने के योग्य हो जाय।

...) आयु सम्बन्धी योग्यतायें:—

विवाह की उचित आयु यौवन काल ही है। यौवनोद्गम (Puberty) के उपरान्त धीरे-धीरे व्यक्ति की बुद्धि, मन और चरित्र में परिपक्वता आती जाती है और १७-१८ वर्ष की आयु तक स्त्री और २० वर्ष की आयु तक पुरुष में वैवाहिक उत्तर- दायित्व के सम्हालने की शक्ति आ जाती है। विवाह की आयु वही श्रेष्ठ है, जब दोनों पक्ष आर्थिक, सामाजिक और यौनिक सन्तुलन बना सकें। मनु ने पुरुष के लिये विवाह की कम से कम आयु २५ वर्ष और स्त्री की १६ वर्ष निश्चित की है। माल्थस का म... है कि शीघ्र विवाह करने से व्यक्ति के आर्थिक साधनों पर बोझ पड़ता है और सन्ता... होने पर तो आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति की दशा और भी शोचनीय हो जाती है। जब त... व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी न हो जाय, तब तक विवाह करना अनुचित है ... सामान्यतः यौवन काल से पहले आर्थिक स्वतन्त्रता मिलना लगभग असंभव है। यौ... ...हले व्यक्ति में सामाजिकता भी नहीं आती और न उसकी इन्द्रियां ही परि... ...ी हैं। इसलिये विवाह के लिये यौवनकाल ही सर्वोत्तम है।

३. बाल-विवाह

मनोवैज्ञानिकों ने बचपन को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है—

जन्म से ६ वर्ष की आयु तक	शैशवकाल
६ से १२ "	बाल्यकाल
१२ से १८ "	किशोरावस्था

जीवन के पहले १२ वर्ष व्यक्ति की जननेन्द्रियां पूर्णतः अविकसित होती है... शैशवकाल और बाल्यकाल में विवाह करना अनुचित है। किशोरावस्था में ...

का विकास अवश्य होने लगता है, पर उसमें परिपक्वता इस काल की समाप्ति के उपरान्त युवावस्था में ही आती है। अतः इस काल में भी विवाह हानिकारक है। साधारण बोलचाल की भाषा में बाल विवाह का अर्थ केवल बाल्यकाल का विवाह नहीं; बचपन की तीनों अवस्थाओं में से किसी में भी सम्पन्न विवाह को बाल-विवाह कहते हैं।

भारतवर्ष में बाल-विवाह का बहुत रिवाज है। इतिहास से पता चलता है कि प्राचीन काल में बाल-विवाह नहीं हुआ करते थे। मुसलमानों के काल में ही इस प्रथा का जन्म हुआ। इस्लाम धर्म में कुमारी से विवाह करना उचित है, पर विवाहिता से विवाह करना हराम समझा जाता है। इसलिये हिन्दुओं ने स्त्री-जाति की रक्षा के लिये बाल-विवाह करने शुरू कर दिये। धीरे-धीरे यह प्रथा भारत में संक्रामक रूप धारण कर गई। अब तो दशा यह है कि बहुत से अबोध दूध पीते बच्चे वैवाहिक सूत्रों में बांध दिये जाते हैं। बहुत से विदेशी तो यह समझने लग गये हैं कि बाल विवाह हिन्दू धर्म का स्थायी अंग है।

सभी सामाजिक प्रथाओं की भांति इसके गुण भी हैं और दोष भी। बाल-विवाह के सम्बन्ध में कोई निर्णय देने से पहले उन गुणों और दोषों की जानकारी आवश्यक है।

गुण:—

संयुक्त परिवारों के लिये बाल-विवाह का बहुत महत्व है। इन परिवारों की सफलता स्त्रियों की सद्बुद्धि प्रेम तथा सहिष्णुता पर निर्भर करती है। अतः छोटी आयु में ही यदि वे उसी परिवार और वातावरण में पलें जहाँ उन्हें सारा जीवन व्यतीत करना है, तो क्या इससे पारिवारिक सुख, शान्ति और समृद्धि लाने में विशेष सहायता नहीं मिलेगी ?

कुछ लोगों का विचार है कि बाल-विवाह यौनिक विफलता (Sexual frustration) को रोकते हैं, जिससे व्यक्ति में यौन-सम्बन्धी ग्रन्थि नहीं बनती। पर सम्मिलित परिवारों में पति-पत्नी को एक दूसरे के सम्पर्क में आने की इतनी खुली छुट्टी नहीं मिलती कि बाल-विवाह यौनिक सन्तुष्टि का कारण बन सके।

माता-पिता यदि अपने घर में अधिक बच्चे चाहते हैं, तो बाल-विवाह ही इसके लिये एक साधन है। स्त्री की सन्तान उत्पत्ति की आयु १३ से ४५ वर्ष है। अतः विवाह जितना शीघ्र होगा, बच्चे भी उतने ही अधिक होंगे। यह ठीक है कच्ची आयु में उत्पन्न बच्चों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं होता और उनके शीघ्र मर जाने की सम्भावना रहती है, फिर भी देरी के विवाह की अपेक्षा बाल-विवाह से बच्चों की संख्या अधिक होती है।

दोषः—

बाल-विवाह से लड़की के शीघ्र मां बन जाने की सम्भावना रहती है, जिसके कारण उसके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और स्त्रियों की मृत्यु दर में वृद्धि होती है।

कच्ची आयु में उत्पन्न बच्चे भी काफी रुग्ण और दुर्बल होते हैं। कुछ तो शीघ्र मर जाते हैं और शेष देश पर भार बन जाते हैं। बाल-विवाह अच्छी नागरिकता में बहुत बड़ा रोड़ा है।

छोटी आयु में विवाह से दम्पति में उत्तरदायित्व की भावना नहीं आती और न वे परिवार का भार ही वहन कर सकते है। शीघ्र विवाह से व्यक्ति की महत्वाकांक्षा भी नष्ट हो जाती है। अतः उसकी उन्नति की सम्भावना कम हो जाती है।

शिक्षा की दृष्टि से भी बाल-विवाह हानिकारक है। विवाह के उपरान्त अधिकांश लोग पढ़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं। एक तो महत्वाकांक्षा में कमी और दूसरे पारिवारिक संकट व्यक्ति की शिक्षा में बाधा बन जाते हैं।

बाल-विवाह के कारण कई बालिकायें छोटी आयु में ही विधवा हो जाती है, और भारत में विधवा-विवाह के अभाव के कारण उन्हें जीवन-भर वैधव्य का दु:ख झेलना पड़ता है।

अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि बाल-विवाह प्रथा सर्वथा हानिकारक और त्याज्य है। संयुक्त परिवार की दृष्टि से ही इसमें एक अच्छाई थी, पर अब संयुक्त परिवारों के धीरे-धीरे विभक्त होते जाने के कारण यह अच्छाई भी समाप्त हो रही है। इसलिये बाल-विवाह को रोकने का प्रयास करना अत्यावश्यक है।

१९२९ में श्री हरविलास लाल शारदा ने एक विधेयक रक्खा, और १९३० में 'शारदा ऐक्ट' के नाम से लागू किया गया। इसका ध्येय १८ वर्ष से कम आयु के बालकों और १४ वर्ष से कम आयु की बालिकाओं के विवाह को रोकना था। पर यह कानून कोई विशेष सफल न हो सका। अब हिन्दू विवाह क़ानून (१९५५) के अनुसार १८ वर्ष की आयु से कम बालक और १५ वर्ष से कम आयु की बालिका का विवाह अवैध घोषित किया गया है। फिर भी यह स्पष्ट है कि केवल कानून इस कुप्रथा को दूर करने में सफल नहीं हो सकता। समाज-सेवकों को जनता में जागृति उत्पन्न करनी चाहिये और क़ानून की सहायता करनी चाहिये, तभी हम इसे जड़ से उखाड़ सकते हैं।

४. हिन्दू-विवाह-कानून

१९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत की कुल जन-संख्या ३५ करोड़ है जिनमें ३१ करोड़ १२ लाख हिन्दू (जिनमें बौद्ध जैन और सिख भी सम्मि-

। अतः भारतीय विवाह-प्रणाली को जानने के लिये भारत की ८६'२६ प्रतिशत
न-संख्या के विषय में जानना अत्यावश्यक है।

हिन्दू-विवाह सम्बन्धी नियमों में संशोधन करने की आवश्यकता काफी समय से
नुभव की जा रही थी। १९५५ में केन्द्रीय विधान सभा अर्थात् संसद (Parlia-
ment) ने हिन्दू-विवाह कानून (Hindu Marriage Act) के नाम से एक
यम बनाया, जो १८ मई, १९५५ को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर द्वारा जम्मू और काश्मीर
ाज्य को छोड़ शेष सारे भारत पर लागू कर दिया गया। समस्त हिन्दू (बुद्ध, जैन,
ख-सहित) इस क़ानून की परिधि में आते हैं।

क) विवाह:—

धारा ५ के अनुसार दो हिन्दुओं (विपरीत लिंग के) में विवाह-सम्बन्ध तभी
ापित हो सकता है, जब कि:—

(१) दोनों में से किसी का कोई पति अथवा पत्नी जीवित न हो।
(२) विवाह के समय दोनों में से एक भी पागल न हो।
(३) वर कम से कम १८ वर्ष का और कन्या कम से कम १५ वर्ष की हो।
(४) दोनों में ऐसा रिश्ता न हो, जिसमें विवाह करना प्रचलित रिवाजों के अनुसार निषिद्ध है।
(५) दोनों सपिण्ड न हो (सपिंड सम्बन्ध वह रक्त-सम्बन्ध है जो माता अथवा पिता के रक्त के अनुसार दो व्यक्तियों में होता है। हिन्दू-विवाह-कानून के अनुसार माता की ओर से तीसरी और पिता की ओर से पांचवीं पीढ़ी तक के सम्बन्धी सपिंड माने गये हैं।)
(६) विवाह के विषय में कन्या के संरक्षक (Guardian) की अनुमति ले ली गयी हो, यदि कन्या की आयु १८ वर्ष से कम हो।

प्रश्न यह है कि कन्या का संरक्षक कौन है? छठी धारा में संरक्षकों की प्राथ-
कता (Preference) के आधार पर बनी हुई सूची दी गई है। सर्वप्रथम संरक्षक
ा है। पिता यदि जीवित न हो, तो इस सम्बन्ध में माता की अनुमति सर्वश्रेष्ठ होगी।
प्रकार संरक्षकों के रिश्ते उस क्रम में दिये गये हैं, जिस में उनकी अनुमति का
र है।

(१) पिता
(२) माता
(३) दादा
(४) दादी
(५) सगा भाई (भाइयों की आयु के अनुसार प्राथमिकता)

(६) सौतेला भाई (भाइयों की आयु के अनुसार प्राथमिकता)
(७) सगा चाचा (चाचों में " ")
(८) सौतेला चाचा (" ")
(९) नाना
(१०) नानी
(११) मामा (मामों में आयु के अनुसार प्राथमिकता)

सौतेला भाई अथवा चाचा तभी संरक्षक माना जायगा, जब कि कन्या उसी के साथ रह रही हो और उसका पालन भी उसी के द्वारा हो रहा हो।

२१ वर्ष की आयु से कम का कोई भी व्यक्ति संरक्षक नहीं बन सकता। यदि दुर्भाग्यवश ऊपर लिखित सम्बन्धियों में से कोई भी ऐसी स्थिति में न हो कि उसकी राय ली जा सके, तो १५ वर्ष की आयु की कन्या अपनी इच्छानुसार जिससे चाहे विवाह कर सकती है। १८ वर्ष की आयु के उपरान्त वर और कन्या को कानून की दृष्टि से किसी से भी अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं, वे जिससे चाहें, विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। पर यह इच्छा ऊपर बताई गई धारा ५ के प्रतिकूल नहीं होनी चाहिये।

विवाह वर और कन्या दोनों पक्षों में से किसी पक्ष की विवाह-सम्बन्धी रीतियों के अनुसार हो सकता है पर जहाँ सप्तपदी (भावी पति-पत्नी का हवन की पवित्र अग्नि के सामने सात कदम चलना) की रीति है, वहाँ सातवाँ कदम रखने ही विवाह पूर्ण समझा जायगा।

(ख) रजिस्ट्रेशन अथवा पंजीकरण (Registration)—

धारा ८ के अनुसार राज्य सरकारें यदि चाहें, तो हिन्दू-विवाहों के पंजीकरण-सम्बन्धी कानून बना सकती हैं, पर अपंजीकृत (रजिस्ट्री न किया हुआ Unregistered) विवाह इस कारण अवैध नहीं कहा जा सकता।

(ग) अवैध विवाह:—

धारा ११, १२ के अनुसार विवाह का कोई एक पक्ष न्यायालय में प्रार्थना-पत्र देकर विवाह को अवैध घोषित करवा सकता है। यदि—

(१) विवाह धारा ५ के किसी नियम के प्रतिकूल हो।

अथवा

(२) विवाह के समय दूसरा पक्ष नपुंसक हो और प्रार्थना-पत्र देने के समय तक उसकी वही दशा रही हो।

अथवा

(३) वर, कन्या अथवा संरक्षक की अनुमति बल पूर्वक अथवा धोखा से ली गई हो। इस दशा में विवाह तभी अवैध घोषित हो सकता है, जब कि वर

के टूट जाने अथवा धोखा के ज्ञात हो जाने के एक वर्ष के भीतर प्रार्थना-पत्र दे दिया जाय। बल के समाप्त होने अथवा धोखे के पता लग जाने के बाद भी यदि प्रार्थी अपनी इच्छा से दूसरे के साथ पति अथवा पत्नी के रूप में रहा हो, तो विवाह अवैध घोषित नहीं हो सकता।

अथवा

(४) विवाह के समय कन्या किसी दूसरे पुरुष से गर्भवती हो। ऐसा विवाह तभी अवैध माना जायगा, जब कि विवाह के समय पति को इस गर्भ का ज्ञान न हो, पति विवाह के एक वर्ष के भीतर प्रार्थना-पत्र दे दे और गर्भ के ज्ञान के बाद उसने अपनी इच्छा से पत्नी से यौनिक सम्बन्ध न रखे हो।

ग) अवैध सम्बन्ध-विच्छेद—

पति अथवा पत्नी में से एक यदि बिना किसी पर्याप्त कारण दूसरे से सम्बन्ध विच्छेद कर ले, तो दूसरा धारा ९ व १० के अधीन जिला न्यायालय में प्रार्थना-पत्र देकर दूसरे पक्ष को वैवाहिक सम्बन्ध बनाये रखने पर विवश कर सकता है।

घ) वैध सम्बन्ध-विच्छेद (Legal separation)—

पति अथवा पत्नी धारा १० के अधीन जिला न्यायालय में आवेदन-पत्र देकर वे क़ानूनी तौर पर अलग हो सकते है। यदि दूसरा पक्ष—

(१) प्रार्थी को कम से कम दो वर्ष से छोड़े हुये हो।

अथवा

(२) प्रार्थी के साथ ऐसा अन्याय-पूर्ण व्यवहार कर रहा हो कि उसके साथ रहना प्रार्थी के हित के प्रतिकूल हो।

अथवा

(३) कम से कम एक वर्ष से भयंकर कोढ़ से पीड़ित हो।

अथवा

(४) प्रार्थना के समय लिंग सम्बन्धी गुप्त रोगों (Venereal Diseases) से पीड़ित हो और उसे यह रोग प्रार्थी से न मिला हो।

अथवा

(५) दो वर्ष से लगातार पागल रहा हो।

अथवा

(६) दूसरे पक्ष ने विवाह के उपरान्त प्रार्थी के अतिरिक्त किसी दूसरे से संभोग (Sexual intercourse) किया हो।

इसी प्रकार विवाह के समय जो सम्पत्ति भेंट में मिली थी, उसे तलाक के सम
धारा २७ के अनुसार न्यायालय को दोनों पक्ष में वितरण करने का अधिकार होगा।

५. वैवाहिक सन्तुलन (Adjustments in marriage)

भारत में पति और पत्नी को गृहस्थ-रूपी गाड़ी के दो पहिये माना जाता है। गा
के दो पहियों में जब तक तालमेल और सन्तुलन न हो, तब तक उसके सुचारु रूप
चलने का प्रश्न नहीं उठता। एक पहिया यदि पूर्व की ओर जाना चाहे और दूसर
पश्चिम को, तो गाड़ी नष्ट-भ्रष्ट हो सकती है। इसी प्रकार पति-पत्नी में तालमेल
सामञ्जस्य और सन्तुलन के बिना गृहस्थ-जीवन को बहुत हानि पहुँचती है। गाड़ी
दोनों पहिये जड़ पदार्थ हैं और हम उनमें जैसा सन्तुलन बनाना चाहें, बना सकते हैं; प
मनुष्य चेतन है, उसे वैवाहिक सन्तुलन बनाने के लिये स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है
भारत में अकसर ऐसे लोगों को विवाह के सूत्र में बांध दिया जाता है, जो एक दूसरे
लिये पूर्णतया अपरिचित होते हैं। अतः उन्हें सन्तुलन के लिये विशेष प्रयास करन
पड़ता है। पति-पत्नी को एक दूसरे के अनुकूल बनना ही चाहिये, तभी घर में सुख
शान्ति और समृद्धि लाई जा सकती है।

मोटे तौर पर जीवन के चार पार्श्व ऐसे हैं, जिनमें सन्तुलन बहुत ही आवश्य
है, वे हैं—

(क) आर्थिक (Economic)

(ख) सामाजिक (Social)

(ग) भावनात्मक अथवा संवेगात्मक (Emotional)

(घ) यौनिक (Saxual)

(क) आर्थिक सन्तुलन:—

कुछ विद्वानों का मत है कि पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध केवल उन्हीं परिवारों के
बीच में स्थापित होने चाहिये, जो आर्थिक दृष्टि से समान हों। इस प्रकार पति तथा
पत्नी एक दूसरे को समानता के स्तर पर मिल सकेंगे और विवाह से पहले (जो) जिस
आर्थिक स्तर (Economic Standard) की अभ्यस्त है, विवाहोपरान्त भी उसे
वही स्तर मिल सकेगा। इस प्रकार उसकी आर्थिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में
बाधा नहीं आयेगी और पति-पत्नी में आर्थिक सन्तुलन सरलता से स्थापित हो जायगा।
पर इस विचार में संकुचितता है, एक तो यह कि विवाह का आधार प्रेम होता है और
यह आवश्यक नहीं कि परस्पर प्रेमी जोड़े आर्थिक दृष्टि से समान परिवारों से ही
सम्बन्ध रखते हों। उनमें एक धनी और, दूसरा निर्धन भी हो सकता है। यदि विवाह-
सम्बन्ध माता पिता के द्वारा स्थापित हो तो वे स्वभावतः ऐसा परिवार खोजते हैं, जो
आर्थिक दृष्टि से उनके तुल्य हो। इनके आर्थिक सन्तुलन में सुविधा अवश्य होती है

पर यदि कन्या अथवा वर का किसी दूसरे से प्रेम हो, तो कभी-कभी इसके दुष्परिणाम भी निकल आते हैं। अतः विवाह का आधार प्रेम होना चाहिये न कि अर्थ। इस मत में दूसरी त्रुटि यह है कि यह मान लेता है कि विवाह से पहले पति की कुछ आर्थिक आवश्यकतायें ही नहीं हो और यदि हों भी तो विवाहोपरान्त उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव में पत्नी की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये अपनी कुछ आवश्यकताओं का त्याग करना पड़ता है और पत्नी को पति की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये अपनी इच्छाओं का बलिदान करना पड़ता है।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आर्थिक सन्तुलन का उपाय यह है कि पति और पत्नी दोनों ही एक दूसरे के लिये त्याग करें। दोनों की आवश्यकतायें मिलकर एक हो जायें और उन्हें उनकी तीव्रता के क्रमानुसार सन्तुष्ट किया जाय। पति को चाहिये कि अपनी कमाई में से कुछ अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उसे अपनी इच्छानुसार व्यय करने को दे। अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये कुछ धन अपने पास रखकर शेष उसे घर का प्रबन्ध चलाने के लिये दे दे। हिन्दू विवाह में पवित्र अग्नि के सामने पति पत्नी का हाथ पकड़कर उसे यह वचन देता है—

ममेयमस्तु पोष्या मह्य त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥

"सब जगत् को पालन करनेवाले परमात्मा ने तुम्हें मेरे हाथ में दिया है। तुम जगत् भर में मेरे द्वारा पोषण करने योग्य पत्नी हो। भगवान् तुम्हें सौ वर्ष तक मेरे साथ जीवित रखे।"

अतः पति को पत्नी की आवश्यकताओं का ध्यान रखना ही चाहिये। पत्नी का भी यह कर्तव्य है कि वह पति की आवश्यकताओं का ध्यान रखे। उसे अपनी इच्छाओं को इतना विस्तृत नहीं कर लेना चाहिये कि पति के लिये उन्हें पूर्ण करना कठिन हो जाय और वे परिवार के आर्थिक साधनों पर बोझ बनें। उसका पति जो कुछ भी कमा कर लाये, उसे उसी में निर्वाह करना चाहिये।

यदि इस प्रकार भी पारिवारिक आवश्यकतायें पूर्णतः सन्तुष्ट न हों, तो पत्नी भी धनोपार्जन में पति का सहयोग करे तो कोई हानि नहीं। पर वे धनोपार्जन के साधन ऐसे होने चाहियें, जो उसके घरेलू कर्तव्यों की पूर्ति में बाधा न बनें। पढ़ी-लिखी स्त्रियां नौकरी कर सकती हैं, पर सामान्यतः इससे उनके घर के काम में बाधा पड़ती है। स्त्रियों के लिये सर्वोत्तम काम कुटीर उद्योग है। वे अपनी फुरसत के समय सिलाई, कढ़ाई करके स्याही, लिफाफे बनाकर अथवा और कोई ऐसा कार्य करके घर की आय में वृद्धि कर सकती है।

(ख) सामाजिक सन्तुलन: –

जिस प्रकार कुछ विद्वानों का मत है कि परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध उन्हीं परि
में होने चाहिये, जो आर्थिक दृष्टि से समान हों। उसी प्रकार कुछ विद्वानों के विचा
सामाजिक स्तर की समानता भी आवश्यक है। यदि पति और पत्नी के सामा
स्तर में अन्तर हो, तो उनमें सन्तुलन होना कठिन हो जाता है। पर इस मत के वि
यह भूलते हैं कि 'प्रेम न जाने जात कुजात'। प्रेम सामाजिक भेद-भावों को
देखता। अत: आपस में सामाजिक सन्तुलन उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व पति-प
पर है। सामान्यत: हमारी समाज में ऊँच-नीच के जो भेद-भाव हैं, वे अप्राकृतिक हैं
उन्हें पारिवारिक सुख शान्ति के लिये मिटाना आवश्यक है। पति-पत्नी को
दूसरे के समाज को सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिये। एक दूसरे को यह कहना
"हमारी जाति तुम्हारी जाति से उच्च है" झूठ और हानिकारक है।

इसी प्रकार हमारी समाज में स्त्री का स्थान पुरुष से नीचा माना जाता है। वे
पूर्णत: अवैज्ञानिक है। कोई इसलिये बड़ा नहीं बन जाता है कि वह पुरुष है अ
कोई इसलिये छोटा नहीं हो जाता कि वह स्त्री है। बहुत से लोग इस भ्रम में भ्रमि
हैं कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्री का स्थान नीचा मानना हिन्दू शास्त्रों के अनु
है। यह विचार पूर्णत: मिथ्या है। मनु ने स्पष्ट लिखा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमते तत्र देवताः।

"जहाँ नारी की पूजा की जाती है, वहीं सभी देवताओं का निवास है।" हि
शास्त्रकारों ने नारी को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। हिन्दुओं में नारी के अपराध कर
पर दण्ड का कोई विधान ही नहीं। नारी अदण्डनीय है। यह तो विदेशियों के सम्प
के परिणाम-स्वरूप हमारी नारी भी पुरुष से हेय समझी जाने लगी। धीरे-धीरे स्त्र
जाति भी अपने को छोटी समझने लगी। वह भूल गई सीता को, जो आज भी समा
की पूज्या है। वह भूल गई लीलावती को, जिसने गणित का आविष्कार करके इस समा
का महान् उपकार किया। पर इस प्रकार अपने पति से नीच समझने के परिणा
स्वरूप वे पति में श्रद्धा तो करने लगी, पर प्रेम नहीं। पुरुष पत्नी से प्रेम की अभिलाष
करता है, श्रद्धा नहीं; क्योंकि श्रद्धा उनसे की जाती है, जो स्वयं से भी पूज्य हों, प्रेम
दो शरीर और एक प्राण होते हैं। फिर श्रद्धा का प्रश्न कहाँ? पत्नी के प्रे
अभाव के कारण पति को निराशा होती है और पारिवारिक सुख और स्नेह नष्
हो जाता है। अत: पति-पत्नी को यह समझना चाहिये कि वे दोनों मिलकर ए
सामाजिक इकाई है, इसलिये उनमें ऊँच-नीच होने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

(ग) भावनात्मक सन्तुलन—

प्रत्येक मनुष्य की भावनायें उसके बचपन में घटी घटनाओं पर बहुत कुछ आधारित
हैं। जिन बच्चों को माता-पिता पर्याप्त प्रेम नहीं देते अथवा जिन्हें बात-बात पर डा

मिलती है, वे निराशावादी हो जाते हैं, एकान्त प्रिय होते है और हँसी-मजाक
सामाजिक कार्यों, मेलों, जुलूसों, सभाओ आदि से दूर भागते है। इसके विपरीत
से ही लोग आशावादी, सामाजिक और हँसमुख बन जाते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति
सभी भावनायें सुख, दु:ख, क्रोध, भय, घृणा, प्रेम आदि बचपन मे ही विकसि
जाती हैं।

यह असम्भव प्रतीत होता है कि विवाह से पहले पति पत्नी के जीवन मे ए
घटनायें घटी हों। इसलिये उनकी भावनाओ मे अन्तर होना स्वाभाविक है।
देखा गया है कि यदि एक हास को पसन्द करता है, तो दूसरा उसे बुरा मानत
एक यदि शान्त है तो दूसरा चचल। एक परमार्थी है तो दूसरा स्वार्थी। एक
भावनाओ, विशेषकर प्रेम और स्नेह संबंधी भावनाओ का प्रकाशन चाहता है, तो
उन्हें गुप्त रखकर आनन्द लेता है। इस पारस्परिक भावनात्मक अन्तर के कारण
कभी उनमे झगड़े भी उठ खड़े होते हैं। इसलिये झगड़ों की सम्भावना को समाप्त
के लिये दोनो का कर्तव्य है कि वे एक दूसरे को समझने का प्रयास करे। दो व्यक्ति
एक-दूसरे से दूर खड़े हो और दोनो ही यदि किसी कारण उस स्थान पर न पहुँच
जहाँ दूसरा गया है, तो उन दोनों के मिलाप का केवल एक यही उपाय
वे एक दूसरे की ओर चल कर मार्ग मे भेंट कर लें। पति-पत्नी की भाव
का असन्तुलन तभी ठीक हो सकता है, जब दोनो ही अपने को दूसरे के अनुकूल
का प्रयत्न करें। यदि एक हंसी-मजाक करता है, तो दूसरा इसे बुरा न माने
दूसरा बुरा मानता है, तो पहला हंसी-मजाक कम कर दे या छोड़ दे। एक यदि
कारण क्रोध में है, तो दूसरा उस समय अपने क्रोध को दबाकर झगड़े को टा
प्रयत्न करे। इस प्रकार पारस्परिक भावनाओ के संघर्ष को रोक कर पति
भावनात्मक सन्तुलन स्थापित कर सकते है।

प्रत्येक व्यक्ति की भावनाओ मे अन्तर होते हुये भी कुछ भावनायें ऐसी भी
नारी-जाति मे अथवा पुरुष-जाति मे समान रूप से पाई जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति
प्रशंसा चाहता है। अतः प्रत्येक नारी की यह इच्छा होती है कि उसका पति
सुन्दरता और बुद्धि की प्रशंसा करे। इसी प्रकार पुरुष पत्नी के मुँह से किसी
पुरुष की प्रशंसा को सहन नही करता। सामान्यत. प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष अ
अथवा पत्नी से प्रेम की अभिव्यक्ति चाहता है। पारिवारिक सुख-शान्ति को नष्ट
वाली सबसे बड़ी वस्तु निराशा है। दिन-भर के परिश्रम के बाद पति जब घ
है, तो उसकी यह इच्छा रहती है कि पत्नी द्वार पर प्रसन्नचित्त से उसका स्वाग
पत्नी भी पति से यह आशा रखती है, कि उस समय पति के होठों पर मुस्कान
हो। हंसमुख होना पति-पत्नी दोनो के लिये हितकारी है। जीवन मे अवस

उसका जीवन तो दुःखमय होता ही है, उसके चरित्र के भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना भी रहती है और कभी-कभी तो वैवाहिक संबंध ऐसे कटु हो जाते हैं कि उनके टूटने की नौबत भी आ जाती है। अतः यौनिक दृष्टि से सन्तुलन स्थापित करने के लिये दोनों को एक दूसरे से सहयोग करना चाहिये। उग्र पक्ष को चाहिए कि वह ऐसे संबंधों के लिये इच्छा व्यक्त करने से पहले दूसरे को इसके लिये भावात्मक दृष्टि से तैयार कर ले।

अविवाहित छात्राओं के लिये भी लिखी गई पुस्तक में इस विषय की विवेचना करना शायद उचित न हो कि "पति-पत्नी में यौनिक असन्तुलन के कौन-कौन से कारण हैं और उन्हें दूर करने के क्या उपाय काम में आ सकते हैं" इसलिये हमने 'विवाह और यौनिकता'-शीर्षक से एक अन्य पुस्तक लिखने का निश्चय किया है, जिसमें हम यौनिक सन्तुलन, सन्तति-नियमन (Birth control) आदि विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। विवाहित महिलायें उससे लाभ उठा सकेंगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

गृह-प्रबन्ध

पोप (Popo) के अनुसार घर एक छोटे से राज्य के समान है और इसकी रानी है। शासकों की भांति स्त्री सारे परिवार की सुख-सुविधा के लि उत्तरदायी है। पुरुष तो केवल विदेश मन्त्री है। वह घर के बाहर का कार्य सम्हाल है। गृह-प्रबन्ध का भार स्त्री के सिर पर है। उसका पति जो कुछ कमा कर लाता है उसे उसी में निर्वाह करना पड़ता है। मानवीय आवश्यकतायें अनन्त हैं और परिवा की आय सीमित होती है। इसलिये बेचारी स्त्री को सीमित आय से अनन्त आवश्य ताओं को सन्तुष्ट करने का प्रयास करना पड़ता है। बुद्धिमान स्त्रियाँ आवश्यकताओं की पारस्परिक स्पर्धा को दृष्टिकोण में रखते हुए गृह-प्रबन्ध करने में सफल हो जाती हैं इसीलिये तो सी० एफ० एन्ड्रूज (C. F. Andrews) ने कहा है कि 'यदि मुझ ईश्वर के सामने बोलने का अवसर प्राप्त हो, तो मैं अवश्य ही गृहस्थ स्त्री को सम्मान दूँ भले ही उसने कभी किसी को तूफान में डूबती नाव को पार नहीं लगाया, भले ही जलते मकान से उसने कभी किसी की जान नहीं बचाई, पर उसने इतना किया कि वह ३०-४० वर्ष तक गृहस्थी निभाती रही। उसने बीमारी तथा निर्धनता में सैकड़ों कष्टों को चुपचाप ऐसी दृढ़ता से सहन किया कि किसी को कानोकान खबर भी न हुई।" *कोई भी स्त्री जिसे कुछ विशेष आर्थिक नियमों का ज्ञान हो, आवश्यकताओं और आय में सन्तुलन रखने में सफल हो सकती है।* अपने परिवार की आय और व्यय का वैज्ञानिक बजट बनाकर और क्रय के विशिष्ट सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करके कोई भी अपनी सीमित आय से अधिक आवश्यकताओं को सन्तुष्टि कर सकती है। प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं आर्थिक सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे।

१. पारिवारिक बजट (Budget)

पारस्परिक प्रतियोगी अनन्त आवश्यकताओं में से अधिक से अधिक को सन्तुष्ट करने का एक ही उपाय है कि पहले वही वस्तु मोल ली जाय, जिसकी आवश्यकता सबसे अधिक तीव्र हो, उसके बाद उससे कम पर। शेष सबसे तीव्र आवश्यकता को सन्तुष्ट करना चाहिये। इस प्रकार आवश्यकताओं को घटती तीव्रता के अनुसार क्रमशः सन्तुष्ट करके अपनी आय से अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है। अर्थशास्त्रियों ने इस नियम को "प्रतिस्थापन का नियम" (Law of Substitution) का नाम दिया है। इस नियम के अनुसार हमें अपनी आय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिये अपनी आवश्यकताओं की तीव्रता के क्रम से तालिका बनानी चाहिये। उस

तालिका से उन आवश्यकताओं को निकाल देना चाहिये, जिनकी तीव्रता इतनी कम है कि उनके लिये सीमित साधनों को दृष्टिकोण मे रखते हुये अधिक तीव्र आवश्यकताओं का त्याग करना उचित नहीं। दूसरे शब्दों मे तीव्रता के क्रम से तालिका में उतनी ही आवश्यकताओं को रहने देना चाहिये, जितनी हमारे सीमित साधनों द्वारा सन्तुष्ट की जा सकती हैं। शेष आवश्यकताओं को त्याग देना चाहिये। इस प्रकार अपनी आय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने की विधि को बजट बनाना कहते हैं।

सिडनी मार्गोलियस (Sydney Margolius) के अनुसार बजट विवरण अपनी आय को व्यय करने की योजना है। बजट द्वारा हम अपनी आय को आवश्यकता के विभिन्न मदों पर इस प्रकार विभक्त करते हैं कि हमारे व्यय से हमारी अधिकतम आवश्यकतायें सन्तुष्ट हों।

(क) विधि:—

बजट बनाने की ऐसी कोई भी वैज्ञानिक रीति नहीं, जिसके अनुसार प्रत्येक परिवार अपनी आय और व्यय मे सन्तुलन रख सके। प्रत्येक परिवार की दशायें, आवश्यकतायें, रिवाज भिन्न-भिन्न हैं इसलिये बजट का एक स्तर (Standard) नियत नहीं किया जा सकता। जर्मनी के अर्थशास्त्री ऐंजल्स (Engels) ने अनेक परिवारों के आय-व्यय का ब्यौरा एकत्रित किया था। उसने परिवारों को आर्थिक दृष्टि से धनी, मध्यम और निर्धन तीन वर्गों मे विभाजन करके उनके बजटों का अध्ययन करके एक नियम का निर्माण किया, जिसे ऐंजल्स का नियम कहते हैं।

ऐंजल्स ने पारिवारिक व्यय को ५ मदों में विभक्त किया। वे मद निम्नांकित हैं:—

(१) भोजन
(२) वस्त्र
(३) घर
(४) प्रकाश तथा ईंधन
(५) शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य

और फिर तीनों वर्गों के व्ययों की तुलना करके देखा कि विभिन्न वर्ग अपनी आय का कितना-कितना भाग प्रत्येक मद पर व्यय करते हैं। ऐंजल्स की इस खोज के परिणाम आगे दी हुई तालिका से स्पष्ट हैं।

	निर्धन वर्ग	मध्यम वर्ग	धनी वर्ग
भोजन	६०%	५५%	५०%
वस्त्र	१८%	१८%	१८%
घर	१२%	१२%	१२%
प्रकाश तथा ईन्धन	५%	५%	५%
शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य	५%	१०%	१५%
जोड़	१००%	१००%	१००%

इस तुलना के परिणाम-स्वरूप ऐंजल्स इस परिणाम पर पहुंचा कि परिवारों का वस्त्र, घर और प्रकाश तथा ईंधन पर व्यय किया जानेवाला आय का प्रतिशत भाग स्थिर रहता है। पर जैसे-जैसे परिवार धनी होता जाता है, भोजन पर प्रतिशत व्यय घटता जाता और शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर बढ़ता जाता है और परिवार की आर्थिक स्थिति दुर्बल होने पर इसके विपरीत परिवर्तन होता है।

ऐंजल्स के इस नियम के परिणाम-स्वरूप बहुत से अर्थशास्त्री यह मानने लगे कि बजट बनाने के लिये इसका उपयोग करना लाभदायक है। उनके अनुसार धनी वर्ग को अपनी आय का ५०% भोजन पर, १८% वस्त्रों पर १२% घर (मकान) पर, ५% ईंधन और प्रकाश पर और शेष ५% शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, नौकरों आदि पर व्यय करना चाहिये। इसी प्रकार उन्होंने इसी नियम के अनुसार मध्यम और निर्धन वर्ग को बजट बनाने की विधि बताई।

व्यक्तिगत रूप से हम अर्थशास्त्रियों के इस मत को ठीक नहीं मानते। पहले तो प्रत्येक परिवार की आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न हैं और ऐंजल्स का यह नियम प्रत्येक परिवार पर लागू नहीं किया जा सकता। दूसरे भारत और जर्मनी की दशाओं में अन्तर हो सकता है। प्रत्येक देश के लिये इस नियम को शुद्ध मानना अनर्गल है। विक्नो मार्गोलियस ने पारिवारिक आय के दृष्टिकोण से ३ व्यक्तियों के अमेरिकन परिवार का बजट निम्न विधि से बना बताया है।

	आय	
	७५ डालर सप्ताह	१०० डालर सप्ताह
भोजन	२६·५%	२६%
वस्त्र	१०%	८·५%
घर	१९%	२०%
ईन्धन तथा प्रकाश	३%	२·५%
अन्य	४१·५%	४३%
योग	१००%	१००%

इससे स्पष्ट है कि जर्मनी के ऐंजल्स का नियम अमेरिकन दशाओं के लिये अनुपयुक्त है। इसी प्रकार वह भारतीय दशाओं के लिये भी विशेष उपयोगी नहीं। फिर ऐंजल्स का यह नियम जर्मनी के कुछ परिवारों के बजटों के अध्ययन से बना है। यह आवश्यक नहीं कि वे परिवार आदर्श रीति से ही व्यय करते हों। उनमे से बहुत परिवार ऐसे हो सकते हैं, जो अपव्यय करके प्रतिस्थापन के नियम का उल्लंघन करते हों। ऐंजल्स का नियम यह भी नहीं बताता कि बजट बनाने की विधि क्या है। वह तो केवल आय को प्रमुख मदों में विभक्त कर देता है। फिर भी हम एक ऐसी विधि बताते हैं, जिसके अनुसार प्रत्येक परिवार अपनी आवश्यकताओं, दशाओं और रिवाजों के अनुकूल अपना बजट बना सकता है।

(१) समय का निश्चयः—

बजट बनाने के लिये सर्वप्रथम यह निश्चय करना आवश्यक है कि वह कितने समय के लिये बनाया जाय। श्रमजीवी लोग उस समय के लिये बजट बना सकते हैं, जिसके अनुसार उन्हे वेतन मिलता हो। साप्ताहिक वेतन पानेवाले लोग साप्ताहिक और मासिक वेतन पानेवाले मासिक बजट बना सकते हैं। व्यापारी तथा अपना काम करनेवाले अन्य लोग भी मासिक अथवा वार्षिक बजट बना सकते हैं। भारतीय दशाओं के लिये मासिक बजट ही सरल तथा सुविधाजनक है। हम यह कल्पना करके कि एक भारतीय परिवार मासिक बजट बनाने का निश्चय करता है, आगे बढ़ते है।

(२) आय का अनुमानः—

बजट बनाने के लिये दूसरा महत्व-पूर्ण पद आय के अनुमान का है। वेतन भोगी लोग बड़ी सरलता से अपनी मासिक आय का अनुमान लगा सकते हैं। अपना कार्य करनेवाले लोगो को भी अपनी आय का अनुमान लगाना आवश्यक है। आय का अनुमान लगाने के लिये कुल आय (Gross Income) से कर, दान, बीमा, प्रावीडेंट फंड आदि ऊपर के खर्च निकाल कर वास्तविक आय (Net Income) निकालनी चाहिये।

(३) व्यय का रिकार्ड—

बजट बनाने का तीसरा कदम यह है कि परिवार के मासिक व्यय का रिकार्ड रक्खा जाय। इस प्रकार कुछ मासों का रिकार्ड एकत्र करके उनकी तुलना की जाय और यह पता लगाया जाय कि सामान्यतः परिवार कौन-कौन से मदों पर कितना-कितना व्यय कर रहा है। इस तुलना से यह भी पता चलेगा कि कौन-कौन से आवश्यक मद छूट रहे हैं जिन पर आवश्यकता से कम व्यय किया जा रहा है और किन पर अधिक।

(४) बजट-निर्माण:—

चौथा और अन्तिम क़दम यह है कि मासिक तुलना से ज्ञात त्रुटियों को दूर किया जाय और फिर आय को उस शुद्ध तालिका के अनुसार व्यय के विभिन्न मदों में विभक्त किया जाय।

(ख) पारिवारिक बजट का एक नमूना:—

नाम ....

पता ....

मासिक आय ....

सदस्यों की संख्या:—

बच्चे ....

स्त्री ....

पुरुष ....

योग

बजट का समय ....

मद	क्रय की मात्रा	दर	व्यय	आय का प्रतिशत व्यय
१. भोजन—				
गेहूँ				
चावल				
चना				
घी				
तेल				
दालें				
चाय				
....				
दूध				
फल				
मिष्टान्न				
योग				
२. वस्त्र—				
कमीज				
बनियाइन				
कोट				
टोपी				
धोती				

उठा सकते हैं ? क्रय करना भी एक कला है। धन कमाने की अपेक्षा व्यय करना अधिक कठिन है। पर क्रय के कुछ विशेष सिद्धान्तों का ज्ञान सभी कठिनाइयों को दूर कर देता है। प्रस्तुत खण्ड में हम इनमें से कुछ आवश्यक सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे।

(क) अपनी आवश्यकताओं का शुद्ध ज्ञान:—

अच्छा क्रेता बनने के लिये अपनी आवश्यकताओं का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है। वस्तु खरीदने से पहले यह सोच लेना चाहिये कि वह किस आवश्यकता को पूरा करने के लिये खरीदी जा रही है और क्या खरीदी जानेवाली वस्तु उस आवश्यकता को सन्तुष्ट करने में समर्थ होगी ? बाजार में आकर जो वस्तु आँखों को जँच जाय, उसे खरीद लेना बुद्धिमानी नहीं।

(ख) विभिन्न आवश्यकताओं की तीव्रता की तुलना करने की योग्यता:—

प्रतिस्थापन के नियम से लाभ उठाने के लिये विभिन्न आवश्यकताओं की तीव्रता का अन्तर जानना आवश्यक है। किस वस्तु की तत्काल आवश्यकता है ? किस आवश्यकता की सन्तुष्टि अथवा किस वस्तु का क्रय भविष्य पर टाला जा सकता है, यह जानना जरूरी है। इस ज्ञान के बिना आदर्श बजट बन ही नहीं सकता।

(ग) श्रेष्ठ वस्तु मिलने के स्थान का ज्ञान:—

वस्तु लेने से पहले यह ज्ञात कर लेना चाहिये कि श्रेष्ठ वस्तु कहाँ मिल सकती है। अक्सर ऐसा होता है कि एक वस्तु दो दुकानों पर भिन्न-भिन्न दामों से मिलती है। आर्थिक दृष्टि से सस्ती दुकान की वस्तु श्रेष्ठ समझी जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि एक वस्तु दो दुकानों पर समान मूल्य से मिल सके, पर वस्तु की शुद्धता में अन्तर हो। इस प्रकार अधिक अच्छे गुण (Quality) की वस्तु श्रेष्ठ है। ग्राहक बनने से पहले यह जान लेना चाहिये कि किस स्थान पर वस्तु अच्छी और सस्ती मिल सकती है।

(घ) वस्तु की जाँच करने की योग्यता:—

वस्तु की जाँच दो दृष्टिकोणों से की जाती है। गुण के दृष्टिकोण से और नमूने (Design) के दृष्टिकोण से। कुछ वस्तुओं का गुण उन पर लगे लेबिल से प्रकट हो जाता है। उसे अच्छी तरह पढ़कर वस्तु को जाँच लेनी चाहिये। दुकानदार से भी वस्तु के गुणों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये और स्वयं भी उसे भली भाँति जाँच लेना चाहिये। अगले खण्ड में हम प्रतिदिन काम में आनेवाली कुछ विशेष वस्तुओं के गुणों को जाँचने की विधि बतलायेंगे।

वस्तु के गुणों के साथ साथ उनकी बनावट पर भी ध्यान देना आवश्यक है। कुछ वस्तुएँ एक ही पदार्थ की बनी और एक ही पवित्रता (Purity) की होती हुई भी

उधार वस्तु लेते समय क्रेता की मोल भाव करने की शक्ति कम हो जाती है। इसके साथ-ही-साथ विक्रेता उधार का ब्याज और असुविधा के लिये हरजाना भी प्राप्त करना चाहता है। इसलिये उधार ली हुई वस्तु सदा महँगी पड़ती है। चेष्टा यही करनी चाहिये कि वस्तु को उधार न लिया जावे।

(छ) वस्तु खरीदने के सुयोग अवसर का ज्ञान:—

अपनी आवश्यकताओं का पहले से अनुमान लगा लेना और सुअवसर आने पर आवश्यक सामान खरीद लेना बहुत लाभदायक है। कई वस्तुयें किसी विशेष ऋतु में सस्ती मिलती हैं और अन्य समय महँगी। अतः वस्तु जिस समय सस्ती मिले, उसी समय उसे ले लेना ही बुद्धिमानी है। शरद्-ऋतु में गरम कपड़ों का भाव तथा सिलाई का दाम अधिक होता है और ग्रीष्म-ऋतु में कम। इसलिये शरद्-ऋतु के वस्त्रों का अनुमान लगाकर क्यों न उन्हें गरमी के दिनों में ही सिलवाकर बचत की जावे।

(ज) स्थानापन्न वस्तु के मोल का ज्ञान:—

वस्तु को खरीदते समय उसके मूल्य की तुलना स्थानापन्न (Substitute) वस्तुओं के मूल्य से भी कर लेनी चाहिये। चाय और काफी दोनों स्थानापन्न वस्तुयें हैं। दोनों में जो सस्ती पड़े, उसी का उपयोग करना उत्तम है।

(झ) खरीदी जानेवाली वस्तु की मात्रा का निश्चय:—

सामान्यतः वस्तु उतनी ही खरीदनी चाहिये, जितनी आवश्यक हो। अन्यथा वह बरबाद हो जाती है। जिन वस्तुओं का उपयोग सामान्यतः होता ही रहता हो, उन्हें अधिक मात्रा में खरीदना लाभदायक है। गेहूँ अधिक लेने से वह थोक के दामों पर मिल जाता है और सस्ता रहता है।

(ञ) मूल्य के दृष्टिकोण से वस्तु के चुनाव की योग्यता:—

साधारणतः प्रत्येक वस्तु तीन प्रकार की होती है—सस्ती, मध्यम और महँगी। सस्ती वस्तु का जीवन बहुत छोटा होता है और वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

महँगी वस्तु अकसर नुमायशी होती है। उसकी महँगाई का कारण उपयोगिता की अधिकता न होकर सजावट होती है। इसलिये सामान्यतः मध्यम मूल्य की वस्तु लेना लाभदायक सिद्ध होता है।

२. कुछ विशेष वस्तुओं का क्रय

(क) खाद्य पदार्थ:—

देखा गया है कि अधिकांश लोग भोजन के पदार्थ बिना सोचे-समझे खरीद लेते हैं। खाद्य वस्तुओं के क्रय से पहले यह देख लेना अनिवार्य है कि परिवार के सदस्यों के

स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से कौन-कौन से पदार्थ आवश्यक हैं। सभी मानते हैं कि व्यक्ति का भोजन सन्तुलित (Balanced) होना चाहिये, ताकि पोषण (Nutrition) के लिये कोई आवश्यक तत्त्व छूट न जाय और न कोई अनावश्यक पदार्थ भोजन में सम्मिलित हो जाय। इसलिये अनावश्यक और विलासिता के खाद्य पदार्थों का त्याग करना ही उत्तम है।

शीघ्र नष्ट होने वाले खाद्य पदार्थ—जैसे हरी तरकारियाँ कम मात्रा में लेना चाहिये। पर टिकाऊ (Durable) खाद्य पदार्थों को अधिक मात्रा में लेना अच्छा है।

दाधानो को ऋतु पर खरीद लेना अच्छा है और किसी थोक व्यापारी अथवा सीधे उत्पादक से खरीदना और भी अच्छा है। ऋतु पर यदि साल-भर के लिये अनाज लेना हो, तो उसे कोई संरक्षक रसायन—जैसे डी० डी० टी० (D. D. T.) अथवा गैमैक्सीन (Gammaxane) लगाकर सुरक्षित रखना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर उसे धोकर और धूप में सुखाकर काम में लाया जा सकता है।

मांसाहारी परिवार गरमियों में ही अण्डे खरीद सकते हैं क्योंकि उस ऋतु में वह सस्ते पड़ते हैं। उनको सुरक्षित रखने के लिये उन्हें सोडा सिलीकेट (Soda Silicate) में डुबो कर रख दिया जाता है।

खाद्य पदार्थ लेते समय उनकी पवित्रता पर विशेष ध्यान देना चाहिये। कुछ महत्त्वपूर्ण खाद्य पदार्थों की पवित्रता जानने की विधि यहाँ दी जा रही है।

(१) आटा :—

आटे में लोग खड़िया मिट्टी आदि मिला देते हैं। थोड़ा-सा आटा लेकर उस पर गन्धक का तेजाब (Sulphuric Acid) की दो एक बूँद छोड़ देनी चाहिये। यदि आटे में उबाल-सा आ जाय, तो समझना चाहिये कि उसमें मिलावट है।

(२) दूध:—

दूध की पवित्रता जानने के लिये एक विशेष आला जिसे लैक्टोमीटर (Lactometer) कहते हैं, बना रहता है। पूर्णतः पवित्र दूध का घनत्व (Specific Gravity) १·३२ होता है और पानी मिले दूध का इससे कम होता है। दूध में एक दो बूँद शोरे का तेजाब (Nitric Acid) डालने से दूध और पानी अलग अलग हो जाता है और इस विधि से भी दूध की पवित्रता की जाँच की जा सकती है। इस प्रकार काढ़े गये पवित्र एक सेर दूध में तीन छटांक पनीर और ११ छटांक पानी होता है। पानी मिले दूध में पनीर की मात्रा कम और पानी की मात्रा अधिक है।

खरीदने से पहले उनके दो किनारे पकड़कर और खींचकर देख लेना चाहिये कि वे मजबूत हैं अथवा नहीं।

सूती वस्त्र सिलवाते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि धोने पर वे २ से ५ प्रतिशत सिकुड़ जाते हैं। इसलिये कपड़े को कुछ खुला और लम्बा सिलवाना चाहिये ताकि सिकुड़ने के उपरान्त वह शरीर में ठीक-ठीक आ जायें। अच्छा तो यह है कि वस्त्र सिलवाने से पहले उन्हें सादे पानी में धोकर सुखा लिया जाय। सैनफोराईज्ड (Sanforized) वस्त्र पहले से धो कर निचोड़ लिये जाते हैं, इसलिये धोने पर उनके सिकुड़ने की बहुत कम सम्भावना रहती है।

करघे (Handloom) के वस्त्र महँगे अवश्य होते हैं, पर उन्हें साफ करना बड़ा सरल होता है। वे मजबूत और टिकाऊ होते हैं और बड़ी सरलता से पसीना सोख लेते हैं, इसलिये स्वास्थ्य की दृष्टि से भी वे उत्तम हैं।

(२) ऊनी वस्त्र (Woolen Cloth)—अच्छे ऊन की पहचान यह है कि वह मुट्ठी में दबाने से स्प्रिंग (Spring) की भाँति दब जाता है और फिर मुट्ठी खोलने पर तत्काल पहले की शक्ल में आ जाता है। उसमें सिलवटों का नाम ही नहीं होता और उसमें बहुत लचक (Elasticity) होती है। आजकल पूर्णतः पवित्र ऊन बहुत कम मिलता है। सामान्यतः उसमें सूत मिला रहता है। ऊन की पवित्रता की जाँच की विधि यह है कि थोड़ा-सा तागा लेकर उसे जलाया जाय। तागे का सूतवाला भाग तत्काल जल जायगा, पर ऊन के जलने में काफी समय लगेगा।

(३) रेशमी वस्त्र (Silken Cloth)—रेशमी वस्त्र बहुत महँगे होते हैं और उन्हें मोल लेना सामान्य भारतीय की शक्ति के बाहर है। वैसे पूर्णतः पवित्र रेशम के वस्त्र काफी टिकाऊ (Durable) होते हैं और बड़ी सरलता से धुल जाते हैं। सोडा करने में उसके खराब हो जाने का भय अवश्य होता है। आजकल पूर्णतः पवित्र रेशम बहुत कम मिलता है। लगभग सभी रेशमी वस्त्र नकली रेशम-रेयोन (Rayon) के बने हुये मिलते हैं।

रेयोन दो प्रकार की होती है, ऐसिटेट तथा विस्कोज़ (Acetate And Viscose) ऐसिटेट रेयोन बड़ी सरलता से धुल जाती और सूख जाती है। पर धुलाई पर उसके शीघ्र फट जाने की सम्भावना रहती है। विस्कोज़ रेयोन के वस्त्र बड़े सुन्दर लगते हैं और वह और भी सरलता से धुल सकती है, पर धुलाई पर इसके फटने की अधिक सम्भावना रहती है। रेयोन के लगभग सभी प्रकार के वस्त्र बड़ी शीघ्रता से घिस जाते हैं और लोटा करने पर उनके तन्तुओं के जल जाने का भय होता है। रेयोन के वस्त्रों की सिलाई भी बड़ी जल्दी उघड़ जाती है। रेयोन ■ केवल

वस्त्र लेना चाहिये, जो धुलाई मे शीघ्र न फट सके और सम्भवतः टफ्टा (Tafta) एक ऐसा वस्त्र है। किंतु अब उसका रिवाज नही रहा।

(४) नाईलान (Nylon)— नाईलान वास्तव मे वस्त्र न होकर प्लास्टिक (Plastic) की एक किस्म है। यह बड़ी सरलता से धुल जाता है और शीघ्र सूख जाता है, पर स्वास्थ्य की दृष्टि से इसका उपयोग अच्छा नही। पूर्णतः पवित्र नाईलान पसीना नही सोख सकता और न इसमे शरीर के मसानो को पर्याप्त वायु ही लगती है। यह लोहा करने पर शीघ्र खराब हो जाता है, और इसमें पर्दा भी नहीं रहता। इसके अतिरिक्त यह बहुत महँगा होता है, इसलिये भारतीयो के लिये इसका प्रयोग केवल विलासिता (Luxury) और तड़क-भड़क की प्रवृत्ति को शान्त करने के लिये ही किया जा सकता है। नाईलान के विभिन्न प्रकारों में ४० प्रतिशत पवित्रता का नाईलान सर्वोत्तम है।

(ग) मकान—

मकान किराये पर लिया जाय अथवा अपना बनवाया जाय, वह ऐसा होना चाहिए कि जिसमें परिवार सुचारु रूप से रह सके। यदि सम्भव हो, तो मकान में बच्चों के खेलने कूदने का आंगन होना चाहिये। कुछ लोग ऐसा मकान लेकर जिसमे अधिक-से अधिक कमरे हों, अपनी शान दिखाते हैं। ऐसा करना हानिकारक है। इससे परिवार के आर्थिक साधनो पर अनुचित बोझ पड़ता है। आज के युग मे जब कि मकानों की बहुत कमी है, ऐसा केवल अपनी आवश्यक आवश्यकताओं का त्याग करके ही किया जा सकता है।

यदि अपना मकान बनवाना या मोल लेना हो, तो आरम्भ मे छोटा मकान ही श्रेष्ठ है। फिर भी वह मकान ऐसा होना चाहिये, जो आवश्यकता पड़ने पर बढ़ाया जा सके। भारत के लगभग प्रत्येक नगर मे केन्द्रीय और राजकीय सरकारो की ओर से गृह-निर्माण-योजनायें चालू की गई है, जिनकी सहायता से भूमि और गृह-निर्माण का सामान—सीमेंट, लकड़ी, ईंटे आदि सस्ते दर पर मिल सकते हैं। इन योजनाओं के द्वारा मकान बनाने के लिये ऋण भी मिल सकता है, जिसे छोटी-छोटी सुविधाजनक किश्तों मे लौटाना पड़ता है। अपना मकान बनाने के लिये इन योजनाओं से भी लाभ उठाया जा सकता है।

(घ) बर्तन—

पकाने के काम मे लाने के लिये तांबे और एल्यूमीनियम के बर्तन अच्छे होते हैं, क्योंकि इनमे सेंक ठीक प्रकार से बराबर लगता है। पकाने मे समय और ईंधन की भी बचत होती है। पकाने के लिये चौड़े पेंदे के बर्तन और भी अच्छे हैं। फिर भी तांबे अथवा एल्यूमीनियम के हल्के बर्तन शीघ्र टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं। पकाने के लिये एनामेल

(Enamel) के बर्तन अनुपयुक्त है, क्योंकि उनमें गर्मी ठीक से नहीं लगती। इस के लिये पीतल के कलई किये हुये बर्तन सर्वश्रेष्ठ हैं। १४-१८ भाग के पीतल के थोड़े पेंदे के कलई किये बर्तन पकाने के लिये सबसे अच्छे हैं।

स्टेनलेस स्टील (Stainless steel) के बर्तन मजबूत तथा टिकाऊ होते हैं, और वे भी पकाने के काम आ सकते हैं। खाना खाने के लिये वे सर्वोत्तम हैं। खाना खाने के लिये चीनी मिट्टी के बर्तन भी खरीदे जा सकते हैं; पर वे शीघ्र टूट-फूट सकते हैं, इसलिये उन्हें बड़े यत्न से सम्हालना चाहिये। कम आय के परिवार कांसे, पीतल अथवा एनामेल के बर्तनों का उपयोग कर सकते हैं।

(ङ) अन्य—

(१) घड़ी—घड़ी के सभी अंगों को सुरक्षित रखने के लिये कम से कम १७ ज्यूल (Jewel) होने चाहिये। इसके अतिरिक्त अच्छा यह है कि यदि घड़ी ली जाय, तो वह ऐसी हो, जो पानी, मिट्टी, झटके आदि से अप्रभावित (Proof) रहे। रास्कोप घड़ियाँ टिकाऊ नहीं होतीं, इसीलिये लिवर सिस्टम की घड़ियाँ अच्छी हैं।

(२) गहने—गहने केवल नुमाइश की इच्छा को सन्तुष्ट करते हैं और पहनते रहने से घिस भी जाते हैं। इसके अतिरिक्त गहनों के रूप में अपने आर्थिक साधनों को बन्द करके रख देना बुद्धिमानी नहीं है। भारत को इस समय अपनी पंचवर्षीय योजनाओं को पूर्ण करने के लिये धन की तीव्र आवश्यकता है। इस दृष्टि से धन को गहनों के रूप में रखना देश-द्रोह है। यदि गहनों को आर्थिक कार्य में लगाया जाय तो ब्याज मिलने के कारण परिवार की आय में भी वृद्धि होती है।

फिर भी आकस्मिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये कुछ धन गहनों के रूप में रखना अनिवार्य है। पूर्णतया शुद्ध सोना २४ कैरेट (Carat) का होता है, पर वह गहने बनाने के अयोग्य होता है, इसलिये उसमें खोट मिलानी पड़ती है। इस प्रकार १४ कैरेट स्वर्ण का अर्थ है कि उसमें १४ भाग स्वर्ण और १० भाग खोट है। १८ कैरेट सोने से तात्पर्य १८ भाग स्वर्ण और ६ भाग खोट है। गहनों के लिये १४-१८ कैरेट का सोना सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसके बने गहने अधिक घिसते भी नहीं और शीघ्र टेढ़े-मेढ़े भी नहीं होते।

भावी माता

वीर अभिमन्यु की कथा से कौन भारतीय परिचित नहीं। वह जब गर्भ में था, तो एक दिन उसकी माता सुभद्रा की तबियत खराब हो गई। अर्जुन ने उनका जी बहलाने के लिए उसे चक्रव्यूह में प्रवेश करने की विधि बतलाई और गर्भ में स्थित अभिमन्यु को भी यह विधि आ गई। योरप को हिला देनेवाला नेपोलियन जब गर्भ में था, तो उसकी मा तारक द्वारा लिखी गई वीर गाथाओं का अध्ययन किया करती थी। इससे स्पष्ट होता है कि भावी सन्तान का स्वास्थ्य, गुण तथा आचार-विचार गर्भिणी के स्वास्थ्य, गुण तथा आचार-विचार पर निर्भर रहते है। भावी मा किस प्रकार रहती है, कैसा आचरण करती है, क्या खाती-पीती है, जीवन के प्रति उसके विचार क्या हैं, ये बातें भावी शिशु के स्वास्थ्य तथा बौद्धिक विकास पर बहुत ही प्रभाव डालती हैं। गर्भावस्था में यदि वह सन्तुलित भोजन करती है, आवश्यक व्यायाम करती है तथा प्रसन्न रहने का प्रयत्न करती है, तो उसकी सन्तान खूब हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर तथा बुद्धिमान होगी। इसके विपरीत यदि वह मामूली भोजन करती है, आलस्य-पूर्ण जीवन व्यतीत करती है, तो उसकी सन्तान दुर्बल, कृश, रोग तथा मन्दबुद्धि होगी। शायद ही कोई स्त्री ऐसी हो, जो यह न चाहे कि उसकी सन्तान स्वस्थ, वीर और बुद्धिमान बने। देश के हित के लिए भी यह आवश्यक है कि उसके नागरिक योग्य, साहसी तथा परिश्रमी हों। अतः यह आवश्यक है कि स्त्रियों को यह ज्ञान हो कि गर्भावस्था में क्या करना चाहिए, क्या खाना चाहिए, कैसा व्यवहार करना चाहिए। आइये, हम यह देखने का प्रयत्न करें कि गर्भ किसे कहते है, उसके क्या लक्षण है और गर्भावस्था में स्त्री को किस प्रकार रहना चाहिए।

१. गर्भ की परिभाषा (Definition of Pregnancy)

गर्भ स्त्री की [illegible] दशा है, जब वह अपने गर्भाशय (Uterus) में शिशु धारण किये हुये होती है। यह दशा उस दिन आरम्भ होती है, जिस दिन डिम्ब (Ovum) और शुक (Spermatoza) परस्पर मिलकर एक होते हैं और उस दिन समाप्त हो जाती है, जिस दिन शिशु जन्म लेता है। पाठकों को यह तो ज्ञात होगा कि डिम्ब स्त्री के डिम्ब-कोष (Ovary) से प्रतिमास निकलनेवाला [illegible] अण्डा है, जो पुरुष के शुक से मिलकर शिशु का रूप धारण करता है। यह अण्डा गलना, गोल और स्वच्छ होता है और इसकी लम्बाई पिन के सिर के बराबर होती है। इसकी चौड़ाई [illegible] होती है। दोनों डिम्ब-कोषों में लगभग १०,००० अपरिपक्व अण्डे अंगूर के गुच्छों के

(Enamel) के बर्तन अनुपयुक्त हैं, क्योंकि उनमें गर्मी ठीक से नहीं लगती। इस के लिये पीतल के कलई किये हुये बर्तन सर्वश्रेष्ठ हैं। १४-१८ गाज के पीतल के चौड़े पेंदे के कलई किये बर्तन पकाने के लिये सबसे अच्छे हैं।

स्टेनलैस स्टील (Stainless steel) के बर्तन मजबूत तथा टिकाऊ होते हैं, और वे भी पकाने के काम आ सकते हैं। खाना खाने के लिये वे सर्वोत्तम हैं। खाना खाने के लिये चीनी मिट्टी के बर्तन भी खरीदे जा सकते हैं, पर वे शीघ्र टूट-फूट सकते हैं, इसलिये उन्हें बड़े यत्न से सम्हालना चाहिये। कम आय के परिवार कांसी, पीतल अथवा एनामेल के बर्तनों का उपयोग कर सकते हैं।

(छ) अन्य—

(१) घड़ी—घड़ी के सभी अंगों को सुरक्षित रखने के लिये कम से कम १७ ज्यूल (Jewel) होने चाहिये। इसके अतिरिक्त अच्छा यह है कि यदि घड़ी ली जाय, तो वह ऐसी हो, जो पानी, मिट्टी, झटके आदि से अप्रभावित (Proof) रहे। रास्कोप घड़ियाँ टिकाऊ नहीं होतीं, इसीलिये लिवर सिस्टम की घड़ियाँ अच्छी हैं।

(२) गहने—गहने केवल नुमायश की इच्छा को सन्तुष्ट करते हैं और पहनते रहने से घिस भी जाते हैं। इसके अतिरिक्त गहनों के रूप में अपने आर्थिक साधनों को बन्द करके रख देना बुद्धिमानी नहीं है। भारत को इस समय अपनी पंचवर्षीय योजनाओं को पूर्ण करने के लिये धन की तीव्र आवश्यकता है। इस दृष्टि से धन को गहनों के रूप में रखना देश-द्रोह है। यदि गहनों को आर्थिक कार्य में लगाया जाय तो ब्याज मिलने के कारण परिवार की आय में भी वृद्धि होती है।

फिर भी आकस्मिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये कुछ धन गहनों के रूप में रखना अनिवार्य है। पूर्णतया शुद्ध सोना २४ कैरेट (Carat) का होता है, पर वह गहने बनाने के अयोग्य होता है, इसलिये उसमें खोट मिलानी पड़ती है। इस प्रकार १४ कैरेट स्वर्ण का अर्थ है कि उसमें १४ भाग स्वर्ण और १० भाग खोट है। १८ कैरेट सोने से तात्पर्य १८ भाग स्वर्ण और ६ भाग खोट है। गहनों के लिये १४-१८ कैरेट का सोना सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसके बने गहने अधिक घिसते भी नहीं और शीघ्र टेढ़े-मेढ़े भी नहीं होते।

भावी माता

वीर अभिमन्यु की कथा से कौन भारतीय परिचित नहीं। वह जब गर्भ में था, तो एक दिन उसकी माता सुभद्रा की तबियत खराब हो गई। अर्जुन ने उनका जी बहलाने के लिए उन्हें चक्रव्यूह में प्रवेश करने की विधि बतलाई और गर्भ में स्थित अभिमन्यु को भी यह विधि आ गई। योरप को हिला देनेवाला नेपोलियन जब गर्भ में था, तो उसकी मां तारक द्वारा लिखी गई वीर गाथाओं का अध्ययन किया करती थी। इससे स्पष्ट होता है कि भावी सन्तान का स्वास्थ्य, गुण तथा आचार-विचार गर्भिणी के स्वास्थ्य, गुण तथा आचार-विचार पर निर्भर रहते हैं। भावी मां किस प्रकार रहती है, कैसा आचरण रखती है, क्या खाती-पीती है, जीवन के प्रति उसके विचार क्या हैं, ये बातें भावी शिशु के स्वास्थ्य तथा बौद्धिक विकास पर बहुत ही प्रभाव डालती हैं। गर्भावस्था में यदि वह सन्तुलित भोजन करती है, आवश्यक व्यायाम करती है तथा प्रसन्न रहने का प्रयत्न करती है, तो उसकी सन्तान खूब हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर तथा बुद्धिमान होगी। इसके विपरीत यदि वह मामूली भोजन करती है, आलस्य-पूर्ण जीवन व्यतीत करती है, तो उसकी सन्तान दुर्बल, कृश, रुग्ण तथा मन्दबुद्धि होगी। शायद ही कोई स्त्री ऐसी हो, जो यह न चाहे कि उसकी सन्तान स्वस्थ, वीर और बुद्धिमान बने। देश के हित के लिए भी यह आवश्यक है कि उसके नागरिक योग्य, साहसी तथा चरित्रवान हों। अतः यह आवश्यक है कि स्त्रियों को यह ज्ञान हो कि गर्भावस्था में क्या करना चाहिए, क्या खाना चाहिए, कैसा व्यवहार करना चाहिए। आइये, हम यह देखने का प्रयत्न करें कि गर्भ किसे कहते हैं, उसके क्या लक्षण हैं और गर्भावस्था में स्त्री को किस प्रकार रहना चाहिए।

१. गर्भ की परिभाषा (Definition of Pregnancy)

गर्भ स्त्री की वह दशा है, जब वह अपने गर्भाशय (Uterus) में शिशु धारण किये हुये होती है। यह दशा उस दिन आरम्भ होती है, जिस दिन डिम्ब (Ovum) और शुक्र (Spermatoza) परस्पर मिलकर एक होते हैं और उस दिन समाप्त हो जाती है, जिस दिन शिशु जन्म लेता है। पाठकों को यह तो ज्ञात होगा कि डिम्ब स्त्री के डिम्ब-कोष (Ovary) से प्रतिमास निकलनेवाला वह अण्डा है, जो पुरुष के शुक्र से मिलकर शिशु का रूप धारण करता है। यह अण्डा पतला, गोल और स्वच्छ होता है और इसकी लम्बाई पिन के सिर के बराबर होती है। इसकी मोटाई $\frac{1}{??}$ इंच होती है। दोनों डिम्ब-कोषों में लगभग ३०,००० अपरिपक्व अण्डे अंगूर के गुच्छों के

समान लटके रहते हैं। प्रत्येक मासिक धर्म (Mensural Secretion) के आने से ठीक चौदह दिन पहले एक अण्डा पककर डिम्ब-कोष से गिरता है।

डिम्ब

पुरुष के वीर्य में छोटे २ कीड़े होते हैं, जिन्हें शुक्र कहते है। इनकी लम्बाई $\frac{१}{५००}$ इन्च होती है और ये केवल सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्र (Microscope) में ही देखे जा सकते हैं। इनके सिर का व्यास (Diameter) $\frac{१}{६०००}$ इंच होता है। इनकी एक पूँछ होती है,जो दायें-बायें हिलती है, जिसके बल पर ये चल सकते हैं। ये एक मिनट में २ मिली-मीटर (Mili-Meter) चल सकते हैं। मार्ग में रुकावट न होने पर ये ८ मिनट में लगभग एक इंच का मार्ग समाप्त कर सकते हैं।
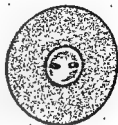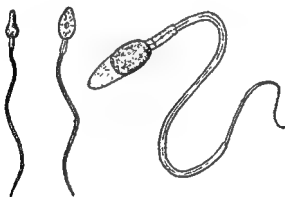
शुक्र कीट

पुरुष शुक्र को योनि (Vagina) में छोड़ देता है। एक बार में एक पुरुष १० से ६० करोड़ तक शुक्र छोड़ता है। यह शुक्र डिम्ब को खोजते हुए गर्भाशय की ओर भागते हैं और उसके पास पहुँचकर उसके अन्दर घुसने का प्रयत्न करते हैं। जब एक शुक्र डिम्ब में प्रवेश कर लेता है, तो डिम्ब की खाल में ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि दूसरे उसमें घुस नहीं सकते। अतः वे अपनी पराजय स्वीकार कर लेते हैं। कभी-कभी एक साथ दो शुक्र दो भिन्न-भिन्न डिम्बों में घुस जाते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप स्त्री एक साथ दो शिशुओं को जन्म देती है। जो भी हो, शुक्र के डिम्ब में प्रविष्ट होते ही गर्भ की दशा आरम्भ हो जाती है।

घ) पेट की वृद्धि (Enlargement of Abdomen)—

चौथे मास से गर्भवती का पेट बढ़ने लगता है, पर सामान्यतः पेट के बढ़ने का ज्ञान पाँचवें मास में होता है। पेट को छूने से गर्भाशय का कड़ापन अनुभव किया जा सकता है। नीचे चित्र में यह दिखाया जा रहा है कि कितने मास के गर्भ में गर्भाशय कहाँ तक बढ़ता है।

ङ) दोहद या अरोचा (Craving)—

भावी मा के हृदय में खट्टे-मीठे भोजनों, अचार तथा चटनी आदि के लिए लालसा उत्पन्न हो जाती है। कुछ गर्भवतियाँ तो भोजनों के ऐसे सम्मिश्रणों की इच्छा प्रकट करती है, जो बहुत असंगत प्रतीत होते हैं। कई स्त्रियाँ चूल्हे मिट्टी को तक खा जाती हैं। डॉ० स्पॉक (Dr. Spock) के अनुसार इन इच्छाओं का कारण यह नहीं कि भावी मा के शरीर को वैसे पदार्थों की आवश्यकता होती है, अपितु इसका कारण यह है कि गर्भ की दशा में आमाशय (Stomach) पहले से अधिक रस (Secretion) उत्पन्न करता है। इस रस को खपाने के लिये उसे कई प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता होती है। पर हमारा विचार तो यह है कि गर्भावस्था में स्त्री का दृष्टिकोण और विचारधारा परिवर्तित हो जाते हैं, वह अपने को पहले से भिन्न समझने लगती है। वह यह कल्पना करने लगती है कि उसे कई प्रकार के भोजनों की आवश्यकता है और इसी कारण लालसा उत्पन्न होती है।

गर्भाशय की वृद्धि

च) हृदय की जलन (Heart Burn)—

गर्भ के पहले दो-तीन महीनों में स्त्री अपने हृदय में कुछ जलन-सी अनुभव करती है जो लेटने पर और भी बढ़ जाती है। ऐसी दशा गर्भ के अन्तिम दिनों तक भी चलती

। डा० स्पाक का मत है कि हृदय की यह जलन हृदय के किसी रोग से उत्पन्न नहीं ती, अपितु इसका भी कारण यही है कि आमाशय पहले से अधिक रस उत्पन्न करने गता है। लेखक इस विचार को भी भ्रमात्मक समझते हैं। हमारे विचार में इसका ारण यह है कि गर्भवती कुछ ऐसे पदार्थों का सेवन कर लेती है, जो उसके स्वास्थ्य के लए ठीक नहीं होते।
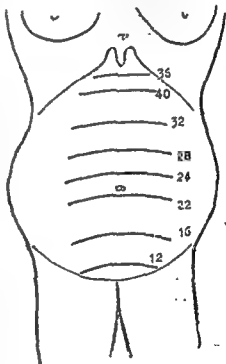
छ) बार-बार पेशाब आना (Frequent Micturation)—

दूसरे या तीसरे मास में भावी मा को बार-बार पेशाब आता है और कभी-कभी ो पेशाब करने में उसे असुविधा तथा पीड़ा होती है। पेशाब बार-बार आने का ारण यह है कि गर्भाशय के भारी हो जाने से उसका दबाव पेशाब की थैली Bladder) पर पड़ता है।

(ज) निद्रा की अधिकता (Excessive sleep)—

कुछ स्त्रियों को गर्भ के प्रारम्भिक दिनों में बड़ी तीव्र निद्रा आती है। देर तक ोकर उठनेवाली स्त्रियाँ भी दोपहर को भोजन करने पर ऊँघने लगती हैं। कुछ मासों में निद्रा की अधिकता दूर हो जाती है।

(झ) शिशु का हिलना-डुलना (Movement of Faetus)—

गर्भ के पाँचवें मास के लगभग गर्भ-स्थित शिशु (भ्रूण) हिलने-डुलने लगता है। आरम्भ मे उसकी यह गति बहुत धीरे-धीरे होती है और भावी मा उसे समझ नहीं पाती। पर जब यह बार-बार होने लगती है, तो उसे पता चल जाता है कि शिशु हिल रहा है। गर्भ के अन्तिम दिनों में शिशु बड़े जोर-जोर से हाथ-पाँव मारने लगता है और गर्भवती को ऐसा अनुभव होता है, जैसे कोई उसे अन्दर से ठोकर मार रहा हो। पेट को गौर से देखने से यह गति स्पष्ट दिखाई देती है।

(ञ) गर्भ की जाँच (Tests of Pregnancy)

ऊपर लिखी गई पहचानो के अतिरिक्त कुछ विशेष पशुओं पर स्त्री के मूत्र का प्रयोग करके भी पता लगाया जा सकता है कि वह गर्भवती है अथवा नहीं।

१९२८ में एश्हीम (Aschhim) और जोण्डक (Zondek) ने इस सम्बन्ध में एक परीक्षण खोज निकाला। इसके अनुसार स्त्री के प्रातःकाल के प्रथम मूत्र का एक औंस लेकर ठण्डा रख दिया जाता है। एक-एक मास की ■ चुहियाँ लेकर पाँच को दो दिन तक दिन में तीन-तीन बार ऊपर वर्णित मूत्र की सात-सात बूंद का टीका लगाया जाता है। चौथे दिन सब चूहों को मार दिया जाता है और उनके डिम्बकोषों को आतशी शीशे (Magnifying lense) से देखा जाता है। यदि सुई लगाये गये किसी भी चूहे के डिम्ब-कोष में रक्त और कुछ पीला-सा पदार्थ दिखाई दे, तो यह समझना चाहिये कि स्त्री गर्भवती है।

१९३१ में एम० एच० फ्रीडमैन (M. H. Friedman) ने इससे भी एक सरल उपाय की खोज की। ३ औंस मूत्र को छानकर एक वयस्क स्त्री खरगोश के कान की शिरा (Vein) में सुई द्वारा डाल दिया जाता है और फिर २४ घण्टे उपरान्त उसके डिम्ब-कोषों का परीक्षण किया जाता है। स्त्री यदि गर्भवती हो, तो खरगोश के डिम्ब-कोषों मे टूटे छाले, ऐसे पदार्थ दिखाई देते हैं, जिनकी बारीक-बारीक परछाई भी होती है।

कुछ वर्ष हुए हाग्बन ने एक नया तरीका खोजा। इसके अनुसार स्त्री के मूत्र को दवाओं द्वारा फाड़ लिया जाता है और फिर आधा चम्मच नमक का घोल डालकर उसे फिर से ठीक कर लिया जाता है। इस मूत्र को एक वयस्क स्त्री-मेढक की श्वास थैली (Lymph Sac) में सुई द्वारा डाल दिया जाता है। स्त्री यदि गर्भवती हो, तो मेढक १२ घण्टे के भीतर अण्डे निकाल देगा। ये अण्डे काफी मात्रा में निकलते हैं, और उनका ढेर स्पष्ट दिखाई देता है।

सबसे सरल विधि यह है कि वयस्क स्त्री-मेढक की श्वास-थैली में एक चम्मच मूत्र का टीका लगा दिया जाय और फिर उसे पौधे के एक जार में रख दिया जाय। २½ घण्टे बाद जार में पड़े मेढक के पेशाब को सूक्ष्म दर्शक यन्त्र द्वारा देख लिया जाय। यदि उसमें शुक्र हों, तो स्त्री गर्भवती है अन्यथा नहीं।

आजकल कुछ ऐसी ओषधियाँ भी मिलती हैं, जिनके सेवन से गर्भ का पता चल जाता है। स्त्री को तीन दिन प्रास्टिग्मीन (Prostigmine) अथवा डाइसिक्रान (Discocron) के टीके लगाये जाते हैं अथवा ओरोसिक्रान (Orosecron) की गोलियाँ खिलाई जाती हैं। गर्भ-रहित स्त्री को एक सप्ताह के भीतर अवश्य ही रजोस्राव आने लगता है, पर गर्भवती का स्राव रुका रहता है।

३. गर्भ की अवधि (Period of Pregnancy)

गर्भ की यह दशा २८० दिन अर्थात् दस चन्द्र-सम्बन्धी मास (Lunar Months) तक रहती है। चन्द्र-सम्बन्धी मास २८ दिन का होता है, जिसमें १४ दिन शुक्ल पक्ष (उजियारी रातें) और १४ दिन कृष्ण पक्ष (अँधेरी रातें) होता है। अंग्रेजी पत्राक (Calender) के अनुसार गर्भ की अवधि लगभग ९ मास १० दिन होती है। यह अवधि कब समाप्त होगी अर्थात् शिशु कब जन्म लेगा, यह जानने के लिये अन्तिम मासिकस्राव की प्रथम तिथि से २८० दिन गिन लेने चाहिये। अथवा नेगेल (Naegele) के अनुसार अन्तिम मासिकस्राव की प्रथम तिथि में ७ दिन जोड़ कर ९ मास पीछे की ओर गिन लेना चाहिये। कभी-कभी इस तिथि से एक आध दिन का अन्तर पड़ जाता है। इसी सम्बन्ध में डेवी (D/) नाम के एक [illegible] [illegible] है और [illegible] [illegible] है। पाठकों के लिए [illegible] यह [illegible] नहीं है।

गर्भावधि जानने के लिये ऐली की तालिका

व्याख्या—ऊपर की समतल पंक्ति में अन्तिम मासिक स्राव की प्रथम तिथि देखिये। उसके नीचे की तिथि शिशु का भावी जन्म-दिवस बतलायेगी।

जनवरी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
अक्तूबर	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	नवम्बर
फरवरी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
नवम्बर	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	दिसम्बर
मार्च	१	२	[illegible]	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
दिसम्बर	६	[illegible]	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	जनवरी
अप्रैल	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
जनवरी	६	[illegible]	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	फरवरी
मई	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
फरवरी	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	मार्च
जून	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
मार्च	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	अप्रैल
जुलाई	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
अप्रैल	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	मई
अगस्त	१	२	३	४	५	६	[illegible]	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
मई	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	जून
सितम्बर	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
जून	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	जुलाई
अक्तूबर	१	[illegible]	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
जुलाई	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	अगस्त
नवम्बर	१	२	[illegible]	४	५	६	[illegible]	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
अगस्त	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	सितम्बर
दिसम्बर	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	
सितम्बर	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	अक्तूबर

गर्भावधि जानने के लिये ऐलो की तालिका

व्याख्या—ऊपर की समतल पंक्ति में अन्तिम मासिक स्राव की प्रथम तिथि देखिये। उसके नीचे की तिथि शिशु का भावी जन्म-दिवस बतलायेगी।

वरी तुबर	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३०३१ २४२५२६२७२८२९३०३१ १ २ ३ ४ ५ ६ ७	नवम्बर
वरी म्बर	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८ २४२५२६२७२८२९३० १ २ ३ ४ ५	दिसम्बर
ं म्बर	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३०३१ २२२३२४२५२६२७२८२९३०३१ १ २ ३ ४ ५	जनवरी
ल री	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३० २२२३२४२५२६२७२८२९३०३१ १ २ ३ ४	फ़रवरी
री	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३०३१ २१२२२३२४२५२६२७२८ १ २ ३ ४ ५ ६ ७	मार्च
	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३० २४२५२६२७२८२९३०३१ १ २ ३ ४ ५ ६	अप्रैल
ई व	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३०३१ २३२४२५२६२७२८२९३० १ २ ३ ४ ५ ६ ७	मई
त	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३०३१ २४२५२६२७२८२९३०३१ १ २ ३ ४ ५ ६ ७	जून
म्बर	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३० २४२५२६२७२८२९३० १ २ ३ ४ ५ ६ ७	जुलाई
ल ई	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३०३१ २४२५२६२७२८२९३०३१ १ २ ३ ४ ५ ६ ७	अगस्त
र ी	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३० २४२५२६२७२८२९३०३१ १ २ ३ ४ ५ ६	सितम्बर
र र	१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३०३१ २३२४२५२६२७२८२९३० १ २ ३ ४ ५ ६ ७	अक्तूबर

इस तालिका की प्रत्येक पंक्ति में नीचे ऊपर दो तिथियाँ दी गई हैं। ऊपर की तिथि अन्तिम मासिकस्राव की प्रथम तिथि की ओर संकेत करती है और नीचे की तिथि भावी शिशु का जन्म-दिवस बतलाती है। अतः यह जानने के लिए कि शिशु कब जन्म लेगा, इस तालिका में पहले वह तिथि खोजनी चाहिये जब कि अन्तिम मासिकस्राव आरम्भ हुआ था।

उस तिथि के नीचे वाली तिथि नोट कर लेनी चाहिये क्योंकि उसी दिन शिशु के जन्म लेने की सम्भावना है।

उदाहरण स्वरूप यदि किसी स्त्री का अन्तिम मासिकस्राव गणतन्त्र दिवस को आरम्भ हुआ हो, तो ऐसी सम्भावना है कि वह गान्धी जयन्ती के ठीक एक मास उपरान्त शिशु को जन्म देगी, क्योंकि ऐसी ही तालिका में २६ जनवरी के नीचे की तिथि २ नवम्बर है।

४. गर्भ में शिशु (भ्रूण) की वृद्धि (Development of foetus)—

डिम्ब और शुक्र के मिलने के उपरान्त नये जीवन का प्रादुर्भाव होता है। शुक्र अपनी पूंछ के बल तैर सकता है, पर डिम्ब से मिल जाने पर वह इसे खो बैठता है और तब तत्काल ही यह अण्डा दो भागों में विभक्त हो जाता है।

अंडे का विभाजन

यह अण्डा एक से दो होने के पश्चात् दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह इस प्रकार अनेकों भागों में विभक्त हो जाता है जिससे कोषों (Cells) का एक ढेर-सा बन जाता है, जिसके बाहर एक थैली (Sack) भी बन जाती है। इस थैली में तरल पदार्थ रहता है। जिसमें शिशु तैरता रहता है। इन कोषों के भोजन तथा ओषजन (Oxygen) की आवश्यकता सन्तुष्ट करने के लिए जेर (Placenta) का निर्माण होता है। इसी जेर के द्वारा शिशु को मां से भोजन तथा ओषजन प्राप्त होते हैं और शिशु की गन्दगी मां तक पहुंचती है। शिशु जैसा कि आगे चित्र में दिखाया गया है, धीरे-धीरे बड़ा होता जाता है। बच्चे के बढ़ने के साथ-साथ गर्भाशय भी बढ़ता जाता है। अन्त में नौ मास दस दिन पर गर्भाशय सिकुड़ने लगता है और शिशु स्वतन्त्र हो जाता है। इस प्रकार गर्भाशय फिर अपनी पहली स्थिति में आ जाता है।

क्योंकि डाक्टरी पुस्तकों में शिशु की वृद्धि का वर्णन चन्द्र मासों के अनुसार किया गया है इसलिए सुविधा के लिए यहाँ भी वैसा ही किया जा रहा है।

पहले मास के अन्त तक गर्भ-स्थित शिशु का कद लगभग १/४ इंच और वजन लगभग १½ माशा हो जाता है। सिर और पैर का आकार बनने लगता है, फिर भी उसे देखकर कोई यह नहीं समझ सकता कि वह मनुष्य का बच्चा है।

दूसरे मास के अन्त तक वह लगभग ७/८ इंच लम्बा और पांच माशा भारी हो जाता है। उसका सिर, धड़, भुजाएं, टांगें, अँगुलियां तथा मुख को सून भी सकता है, बन जाता है। पर इस मास पिण्ड में हड्डियां नहीं होती। उसे देखकर यह पता चल जाता है कि वह मनुष्य की सन्तान है।

तीसरे मास में उसका कद तीन इंच और वजन आधा छटांक के लगभग हो जाता है। अँगुलियों पर नाखून भी दिखाई देने लगने हैं। कान पूर्णतया बन जाते हैं और फेफड़ों का निर्माण आरम्भ हो जाता है। शिशु को जिस लिङ्ग (Sex) का होना होता है, उसी समय हो जाता है।

चौथे मास के अन्त तक यह पिंड [illegible] इंच लम्बा हो जाता है और उसका भार भी ३ छटांक के लगभग हो जाता है। हड्डियां बन जाती हैं, सिर के बाल उगने लगने हैं, तथा मांस पेशियां (Muscles) भी कार्य करने लगती हैं। हृदय की धड़कन आरम्भ हो जाती है और आंखों की भौहें और पिपनियां भी निर्मित हो जाती हैं।

पांचवें मास तक शिशु की लम्बाई १० इंच और वजन आधा सेर के लगभग हो जाता है। उसके सारे शरीर पर रोयें उग आते हैं। इस समय उसकी खाल लाल रङ्ग की होती है। शरीर पर पड़ी हुई झुर्रियों के कारण वह बहुत बूढ़ा लगता है, यद्यपि उसकी खाल के नीचे चर्बी जमा होने लगती है। उसके धड़ की अपेक्षा सिर अधिक बड़ा होता है और हाथों की अपेक्षा पांव भी लम्बे होते हैं। माता अब उसके हिलने-डुलने को अनुभव करने लगती है।

छठे मास के अन्त तक उसकी लम्बाई एक फुट और वजन १ सेर हो जाता है। पलकें खुल जाती और बालों में रङ्ग आने लगता है। यदि इस समय शिशु जन्म ले ले, तो वह कुछ देर सांस लेकर मर जाता है।

सातवें मास में वह १४ इंच लम्बा और १½ सेर भारी हो जाता है। लगभग इसी समय वह गर्भाशय में उलट जाता है और बाहर निकलने के मार्ग पर आ जाता है। इस समय पैदा हुआ शिशु बहुत ही ध्यान रखने पर जीवित रह सकता है।

आठवें मास के अन्त तक उसका कद १७ इंच और वजन सवा सेर हो जाता है। खाल का रंग लाल रंग से बदलते-बदलते साधारण खाल जैसा होने लगता है। नाखून अंगुलियों के सिरों तक पहुँच जाते हैं। इस समय जन्म लेने पर विशेष लालन-पालन करने पर उसके जीवित रहने की संभावना है।

नवें मास में वह १८ इन्च लम्बा और २½ सेर भारी हो जाता है। उसका शरीर पूर्ण हो जाता है और शरीर पर उगे हुये रोयें कम होने लगते हैं।

दसवें मास के अन्त तक उसका कद २१ इन्च हो जाता है और वजन भी लगभग ३ सेर से ३½ सेर तक हो जाता है। उसकी खाल कोमल होती है और शरीर एक झिल्ली (Vernix caseosa) से ढका रहता है। सिर के बाल १ इंच के लगभग होते हैं। इस सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में नवजात शिशु नामक भाग में सविस्तार बतलाने का प्रयत्न करेंगे।

६ सप्ताह ६½ सप्ताह ७ सप्ताह ७½ सप्ताह

५. गर्भरक्षा
(Protection of Pregnancy)

कुछ भावी मातायें कभी-कभी यह अनुभव करती हैं कि उनकी योनि से कुछ रक्त-सा तरल पदार्थ निकल रहा है। उन्हें कमर में पीड़ा और शरीर में दुर्बलता का आभास होता है। ऐसी दशा में उन्हें तत्काल किसी योग्य चिकित्सक से चिकित्सा करवानी चाहिये अन्यथा गर्भपात (Abortion) होने की सम्भावना होती है। हिलने डुलने से यह सम्भावना और भी बढ़ जाती है। इसलिये चिकित्सक को घर पर बुलाना ही उचित है।

८ सप्ताह

८½ सप्ताह

९ सप्ताह

इस दशा में रोगिणी को पूर्ण रूप से विश्राम की आवश्यकता होती है। अच्छा तो यह है कि टट्टी-पेशाब भी चारपाई पर ही लेटे-लेटे किया जाय। चारपाई के पैताने की ओर पायों के नीचे दो-दो, तीन-तीन ईंटें रख देने से गर्भपात का भय कुछ कम हो जाता है।

यदि किसी कारण चिकित्सक शीघ्र न मिल सके, तो उसके मिलने तक रोगिणी को निम्नलिखित औषधि सेवन करना चाहिये।

...मिन सी एक गोली, विटामिन के १ गोली, विटामिन ई १ गोली, विटामिन पी १ ...कलाइन १ गोली।

इनको दिन में तीन बार पानी के साथ निगल जाना चाहिए। रोगियों को कैलशियम (Calcium) का सेवन करना भी परमावश्यक है।

६. गर्भ कालीन कुछ रोग और उनका निवारण—

(क) कब्ज (Constipation)—

गर्भ के कुछ पिछले मासों में अधिकांश स्त्रियाँ कब्ज का अनुभव करती हैं। इसका कारण यह है कि गर्भाशय के बढ़ जाने से अँतड़ियों पर दबाव पड़ता है, जिससे टट्टी जाने में कठिनाई होती है। इसके लिए गर्भवती को चाहिये कि वह ऐसे पदार्थों का सेवन न करे, जिनसे कब्ज हो जाती है, जैसे—मैदा (Starch) के पदार्थ।

यदि आवश्यक हो, तो हल्का-सा जुलाब जैसे लीक्विड पैराफीन (Liquid Paraffine) लिया जा सकता है। पर इन औषधियों की आदत नहीं डालनी चाहिए। विटामिन बी १ (Vit. B_1) अँतड़ियों को फैला देता है, और इससे भी कब्ज दूर हो सकती है।

(ख) दिल की जलन (Heart burn)—

अधिकांश भावी माताएँ हृदय में जलन का अनुभव करती हैं। अधिकतर इसका कारण यह होता है कि वे कुछ ऐसी वस्तुएँ खा लेती हैं, जो उनके स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं होतीं।

भोजन के पदार्थों में यह देखने की आवश्यकता है कि कौन-सा पदार्थ कष्टदायक है। साधारणतया तेल या घी-वाले पदार्थ इस रोग को उत्पन्न करते हैं। थोड़े-से पानी में एक चम्मच खानेवाला सोडा (Soda Bicorbonate) घोलकर पी जाने से हृदय की यह जलन शान्त हो जाती है।

(ग) त्वचा की जलन एवं खाज (Itching of Skin)—

गर्भावस्था में योनि से विशेष प्रकार के रस निकलने के कारण अंग के बाहरी भाग में जलन अनुभव होती है। जलनवाले स्थान को १० छटांक ठंडे पानी में एक चम्मच मीठा सोडा घोलकर धोने से यह जलन कम हो जाती है। [illegible] के लिए ही बाल पर पेडू का [illegible] फैल जाता है, जिससे भी जलन उत्पन्न हो सकती है। इस दशा में [illegible] तेल अथवा [illegible] का [illegible] पर आराम हो जाता है।

(घ) टांगों में ऐंठन (Cramps in the legs)—

[illegible] शिशु का बोझ पड़ने के कारण टांगों में ऐंठन हुआ करती

है। गर्भवती के अधिक थके हुए होने पर यह ऐंठन और भी तीव्र तथा कष्टदायक हो जाती है।

लेट जाने पर ऐंठन कम हो जाती है। पीठ के बल लेटकर टखने के जोड़ से पैर अँगूठे को जितना ऊपर लाया जा सके, लाना चाहिए।

गर्भवती की टांगों में ऐंठन के समय पैरों को सीधा रखना।

इससे पिण्डली की मांस-पेशियां कस जाती है और ऐंठन शान्त हो जाती है। ऐंठन से छुटकारा पाने की एक विधि और भी है, जो कष्ट को शीघ्र दूर करती है। खड़े होकर, अपनी टांगों को पूर्णतया सीधा रखकर, कूल्हों पर हाथ रखकर शरीर को आगे की ओर झुकाना चाहिए।

) निद्रा अभाव (Sleeplessness)—

कुछ स्त्रियों को गर्भ के पिछले दो-तीन मास ठीक प्रकार से निद्रा नहीं आती। इसका कारण यह है कि वह इन दिनों काम तथा कसरत नहीं करती। गर्भवती को व्यायाम अवश्य करना चाहिए। रात के समय चाय या काफी नहीं पीनी चाहिए। योग्य चिकित्सक की अनुमति के बिना नींद लानेवाली औषधियों का सेवन हानि-कारक हो सकता है।

विषाक्तसिमियां (Toxaemia)—

गर्भ के छठे सप्ताह से इसके अन्त तक किसी भी समय यह रोग हो सकता है। इससे पीड़ित व्यक्ति अपने आप में कुछ नशा-सा अनुभव करता है और उसे बहोशी आती है। ऐसी रोगिणी को काफी मात्रा में ग्लूकोज (Glucose) लेना चाहिए और शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करवानी चाहिए।

सिर-वेदना (Headache)—

कभी-कभी गर्भवती को कब्ज के कारण अथवा आंखों पर बोझ पड़ने के कारण पीड़ा होने लगती है। पहली प्रकार की पीड़ा कब्ज को दूर करके शान्त की

जा सकती है। यदि सिर की पीड़ा आँखों पर बोझ पड़ने के कारण हो, तो सीने-पिरोने या पढ़ने के समय यह तीव्र हो जाती है। इसके लिए चश्मा लगवा लेना चाहिए। यदि सिर की पीड़ा काफी प्रबल हो और लगातार जारी रहे, तो यह समझना चाहिए कि गुर्दे में कुछ रोग है। ऐसी दशा में किसी अच्छे चिकित्सक से चिकित्सा करवानी चाहिए।

(ज) मूत्र करने में कष्ट (Albumenuria)—

इस रोग से पीड़ित स्त्री के सिर में दर्द होने लगता है और रक्त का दबाव (Blood Pressure) बढ़ जाता है और पेशाब करने में कष्ट होता है तथा उसमें एलब्यूमन (Albumen) जाने लगती है। जब तक गुर्दे ठीक रहते हैं, वे रक्त-प्रवाह में से आनेवाली एलब्यूमन को ठिकाने लगा देते हैं। यदि उन पर अधिक बोझ पड़ने लगे, तो यह अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं कर पाते, जिससे पेशाब में अधिक एलब्यूमन आने लगती है।

एलब्यूमन को जाँच इस प्रकार करते हैं : एक शीशे की परीक्षण नली (Test Tube) में पेशाब लेकर ऊपर के भाग को स्पिरिट लैम्प पर गर्म करने पर यदि उसमें कोई परिवर्तन न आये तो ठीक है। पर यदि गर्म करने के स्थान पर पेशाब दूध के समान सफेद हो जाय, तो उसमें १-२ बूँद ऐसिड ऐसिटिक (Acid Acetic) डाल कर देखा जाता है। यदि वह सफ़ेदी तब भी न घुले, तो समझना चाहिए कि पेशाब में एलब्यूमन है। सामान्यतः इस रोग से पीड़ित स्त्रियों के हाथ-पाँव और चेहरे पर सूजन आ जाती है।

ऐसी रोगिणी को शीघ्र ही किसी योग्य चिकित्सक से चिकित्सा करवानी चाहिये। जब तक चिकित्सक न मिले, तब तक उसे चारपाई पर विश्राम करना चाहिये और दिन में दो-तीन बार ग्लूकोज का सेवन करना चाहिये। नमक खाना पूर्णतया बन्द कर देना चाहिए।

(झ) एक्लैम्पसिया (Eclampsia)—

इस रोग में रोगिणी को बेहोशी आने लगती है, सिर-दर्द होता है, रक्त दबाव बढ़ जाता है, सिर चक्कर खाता है और आँखों के आगे तारे नाचते दिखाई देते हैं। कभी-कभी उल्टी आने लगती है। लगभग एक हजार गर्भवतियों में से केवल दो को यह रोग होता है। यह रोग गर्भ के पिछले कुछ महीनों में ही हो सकता है और सामान्यतया पहले गर्भ में होता है। ऐसी दशा में शीघ्र ही किसी योग्य चिकित्सक की राय लेनी चाहिए और गर्भवती को पर्याप्त मात्रा में ग्लूकोज का सेवन करना चाहिए।

यदि वह शिशु के विकास को दृष्टि में रखकर भोजन नहीं करती, तो शिशु उसके शरीर में सुरक्षित तत्त्वों (चर्बी आदि) से अपना भोजन ले लेता है, जिससे माँ के स्वास्थ्य पर दूषित प्रभाव पड़ता है। गर्भवती के भोजन में तन्तु (Tissuo) बनानेवाले पदार्थों जैसे प्रोटीन (Proteins) की पर्याप्त मात्रा होनी चाहिए। इसी प्रकार उसके भोजन में उष्णता तथा शक्ति उत्पन्न करनेवाले तत्त्वों जैसे चीनी, चिकनाई (fat) और स्टार्च (Starch) तथा मिनरल (Mineral) जैसे लोहा (Iron), कैलसियम (Calcium), फासफोरस (Phos Phorus) तथा विटामिन (Vitamin) पर्याप्त मात्रा में होने चाहिए। एक दिन में गर्भवती को लगभग २५०० उष्णता तत्त्वों (Calories) की आवश्यकता होती है। उसके भोजन में कौन-कौन-सा तत्त्व कितनी-कितनी मात्रा में होना चाहिए और वह किन किन वस्तुओं में प्राप्त किया जा सकता है, इसकी एक तालिका नीचे दी जा रही है—

भोजन तत्त्व		मात्रा	साधन
प्रोटीन		१॥ छटांक	दालें, दूध, मांस, अण्डे
कैलसियम		१'५ माशे	दूध
लोहा		१'५ रत्ती	दूध, अंडे की जर्दी, साग, कलेजी, हरी तरकारियाँ, [illegible]।
विटामिन	ए	६००० यूनिट	दूध, मलाई, अण्डे, कलेजी, मछली
	बी	८०० यूनिट	दूध, तरकारियाँ, अण्डे, कलेजी, मछली, मांस, मटर, चावल के छिलके
	सी	१ माशा	खट्टे फल, टमाटर, नेबू।
	डी	६०० यूनिट	मछली, दूध।

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि गर्भवती के भोजन में दूध, फल, हरी तरकारियाँ तथा दालें अथवा मांस आदि की मात्रा अधिक होनी चाहिए। दिनभर में इसे ६ से ८ गिलास तक द्रव (Liquid) पदार्थों का सेवन भी करना चाहिए। इसमें से [illegible] जल होना चाहिए।

शौच साफ होने को नियमित रखने के लिये हरी तरकारियों की आवश्यकता होती है। गर्भ के अन्तिम मासों में भोजन में इन पदार्थों की कमी कर देनी चाहिए [illegible]

[illegible]

रहे हैं। एक उन स्त्रियों के लिए है, जो शाकाहारी (Vegetarian) हैं और दूसरा उनके लिए है, जो मांसाहारी (Non-Vegetarian)।

शाकाहारी—गर्भवतियों को प्रत्येक दिन निम्नलिखित वस्तुओं का भोजन करना चाहिए।

चावल	६॥	छटांक
आटा इत्यादि	४॥	"
दूध	४	"
चने, दालें	१॥	"
बिना पत्तों की तरकारियाँ	३	"
हरे पत्तों की तरकारियाँ	२	"
घी, तेल	१	"
फल	१	"

इनके अतिरिक्त शिशु होने के नौ मास पहले और नौ मास उपरान्त तक निम्नलिखित वस्तुएँ भी आवश्यक हैं।

(१) शरीर तथा हड्डी के निर्माण के लिए कम-से-कम आध सेर दूध। यदि दूध १ सेर हो, तो और भी उत्तम है। पनीर, मक्खन, घी दही, छाछ आदि का भी उपयोग हो सकता है। सूर्य की रोशनी और ताजी वायु इन भोजनों से अधिकतम लाभ उठाने में शरीर की सहायता करते हैं।

(२) रक्त-वृद्धि के लिए माँ को हरी तरकारियाँ २ छटांक, ताजे फल और एक चाय के चम्मच के बराबर मारमाइट (Marmite) की आवश्यकता होती है। ताजी वायु में व्यायाम करने से रक्त-प्रवाह में सहायता मिलती है।

(३) साधारण स्वास्थ्य के लिए गर्भवती को कोंपल निकले हुए चने और दालों का उपयोग करना चाहिये।

मांसाहारी—गर्भवतियों को प्रत्येक दिन निम्नलिखित वस्तुओं का भोजन करना चाहिए।

चावल, आटा इत्यादि	६	छटांक
मांस या मछली	१	"
दूध	४	"
चने, दालें	१॥	"
बिना पत्तों की तरकारियाँ	३	"
हरे पत्तों की तरकारियाँ	२	"
घी, तेल	१	"
फल	१	"

इनके अतिरिक्त शिशु होने के नौ मास पहले और नौ मास उपरान्त तक निम्नलिखित वस्तुएं भी आवश्यक हैं।

(१) शरीर तथा हड्डी के निर्माण के लिये कम-से-कम आधा सेर दूध। यदि दूध १ सेर हो, तो और भी उत्तम है। पनीर, मक्खन, घी, दही, छाछ आदि का भी उपयोग हो सकता है। प्रतिदिन एक अण्डा भी आवश्यक है। सूर्य की रोशनी और ताजी वायु इन भोजनों से अधिकतम लाभ उठाने में शरीर की सहायता करते हैं।

(२) रक्त-वृद्धि के लिये मां को हरी तरकारियां ३ छटांक, ताजा फल और सप्ताह में दो बार कलेजी की आवश्यकता होती है। ताजी वायु में व्यायाम करने से रक्त-प्रवाह में सहायता मिलती है।

(३) साधारण स्वास्थ्य के लिए गर्भवती को कोपल निकले हुए चने और दालों का उपयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन एक अथवा चाय के चम्मच के बराबर मछली का तेल और सप्ताह में दो बार मछली विशेषकर समुद्री मछली का सेवन करना चाहिये।

(ख) वस्त्र:—

गर्भवती के लिए ठीक प्रकार के वस्त्र बहुत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनके बिना वह बहुत ही भद्दी लगेगी। तंग वस्त्रों में उसे कष्ट भी होता है। वस्त्र कैसे होने चाहिए, यह बात ऋतु पर निर्भर करती है। फिर भी उस सम्बन्ध में कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

(१) गर्भवती के वस्त्र ऐसे होने चाहिए, जो उसे ठण्ड तथा लू से सुरक्षित रख सकें।

(२) वस्त्र खूब ढीले-ढाले होने चाहियें, ताकि गर्भवती को हाथ-पांव हिलाने या सांस लेने में कोई कष्ट न हो।

(३) उसे कोई भी ऐसा वस्त्र नहीं पहनना चाहिये, जो छाती या पेट पर कसता हो।

(४) सबसे अच्छा वस्त्र वह है जो कन्धे पर से लटक सके।

(५) वस्त्र ऐसे हों, जो पेट में बढ़ते हुए शिशु के विकास पर हानिकारक प्रभाव न डाल सकें।

इस दृष्टिकोण से भारतीय महिलाओं के लिए साड़ी, ब्लाउज ही सर्वोत्तम वस्त्र है।

(ग) स्नान:—

त्वचा को स्वस्थ रखने के लिए गर्भवती को प्रतिदिन ताजे या ठण्डे जल से स्नान करना चाहिये। हां, यदि उसे कोई रोग हो जाय, तो दूसरी बात है। प्रतिदिन स्नान करने से मसाम (रोम छिद्र) खुले रहते हैं, जिनसे स्वास्थ्य को लाभ पहुंचता है।

(घ) दाँत:—

गर्भ के आरम्भ में ही गर्भवती को अपने दाँतों की जाँच करवा लेनी चाहिए और यदि आवश्यकता हो, तो उनकी चिकित्सा भी करवा लेनी चाहिये। अच्छे स्वास्थ्य के लिए अच्छे पाचन (Digestion) की आवश्यकता होती है, और अच्छे पाचन के लिए दाँतों का स्वस्थ होना परमावश्यक है।

कुछ स्त्रियों के दाँत गर्भावस्था में खराब होने लगते हैं। पुरानी कहावत कि प्रत्येक शिशु के जन्म पर माता एक दाँत खो बैठती है। इस कथन में कुछ सत्यता अवश्य है। दाँत मुख्यतः कैल्शियम, विटामिन डी और विटामिन सी से बनते हैं और इन्हीं से उनकी मरम्मत होती है। शिशु की हड्डियों और शरीर का निर्माण भी इन्हीं पदार्थों से होता है। इसलिए दाँतों को स्वस्थ रखने के लिए गर्भवती को इन पदार्थों का सेवन पहले से अधिक मात्रा में करना चाहिए।

(ङ) छातियाँ:—

गर्भवती को अपनी छातियों की विशेष देख-भाल करनी चाहिए। कभी २ चूचुक के इर्द-गिर्द पपड़ी (Crust) जम जाती है। ऐसी दशा में उनको साबुन से धोरे २ धोकर पपड़ी को उतार देना चाहिए। चूचुक यदि उभरे न हों, तो दिन में दो बार उन्हें अंगुली से बाहर निकाल कर घुमाना चाहिये। चूचुक को बाहर निकालने के लिये दूध निकालनेवाले आले (Breast pump) का भी प्रयोग किया जा सकता है।

दूध निकालने वाले आले का प्रयोग।

छातियों को कोमल तथा लचीला बनाने के लिये पाँचवें या छठे मास में उन पर लैनन पैट्रोलियम जैली या ग्लिसरीन लगाई जा सकती है।

(च) वजन:—

धर्म-शास्त्र-वेत्ताओं का मत है कि गर्भ के बल युक्त होने का वजन पहले के वजन
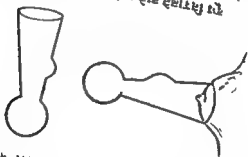
से लगभग दस सेर बढ़ जाता है। इस वृद्धि का कारण निम्न तालिका में स्पष्ट हो जायगा।

शिशु	३½ सेर
जेर (आवनौल)	½ सेर
अमोनिया मय तरल पदार्थ	१ सेर
गर्भाशय की वृद्धि	१ सेर
रक्त „ „	¾ सेर
छातियों „ „	¾ सेर
शरीर की चर्बी तथा तन्तुतरल (Tissue fenid)	२½ सेर
योग	१० सेर

गर्भ के प्रारम्भिक दिनों में कुछ स्त्रियों का वजन गिर जाता है, परन्तु यह दशा कुछ ही दिन रहती है। वजन की यह गिरावट यदि अधिक दिनों तक रहे तो किसी चिकित्सक की राय लेना अत्यावश्यक है। इसके साथ ही साथ उसे ऐसे भोजन की आवश्यकता होती है, जिसमें उष्णता तत्व (calories) अधिक हों जैसे चीनी, घी, दूध, तरकारियाँ, फल, मांस, अंडे इत्यादि।

कभी २ गर्भ-काल में कुछ स्त्रियाँ आवश्यकता से अधिक मोटी हो जाती हैं। ऐसी दशा में भी चिकित्सक की राय लेना ही उत्तम है। अपने आप भोजन में से पौष्टिक तत्व निकाल देना हानिकारक होता है।

(छ) विश्रामः—

गर्भवती को रात्रि में कम-से-कम ८ घण्टे सोना आवश्यक है। उसका कमरा खुला और हवादार होना चाहिये। दोपहर में भी कम-से-कम दो घण्टे के लिये उसे खिड़कियाँ खोलकर आराम कर लेना चाहिए। कुर्सी पर बैठे-बैठे आराम करना हानिकारक है।

(ज) व्यायामः—

गर्भवती को स्वस्थ रहने तथा आलस्य से छुटकारा पाने के लिए व्यायाम करने की आवश्यकता होती है। उसके लिए हल्का व्यायाम ही उत्तम है। कड़ा व्यायाम करने से, भारी बोझ उठाने से, उछलने-कूदने से, घुड़सवारी करने से, साइकिल चलाने से और सिलाई की पाँव से चलाई जानेवाली मशीन से कार्य करने से गर्भपात का भय होता है। सातवें मास के पश्चात् तैरना भी हानिकारक होता है। नगर निवासिनियों के लिए अन्य प्रकार के व्यायाम के अभाव के कारण गृह-कार्य तथा सैर ही उत्तम व्यायाम है। जब कि ग्राम निवासिनियाँ इनके अतिरिक्त बागवानी इत्यादि भी कर सकती हैं।

८. डाक्टरी जांच (Medical Examination)

गर्भ के प्रारम्भ से ही शिशु को माता के रक्त से भोजन लेना पड़ता है। इ
ए, जितना शीघ्र हो सके, भावी माता को किसी योग्य चिकित्सक से अपनी जां
रवा लेनी चाहिए। सामान्यतः निम्न प्रकार की जांच करवा लेना परमावश्यक है।

(क) हृदय, गुर्दे तथा शरीर के अन्य अंगों की जांच करवाकर यह ज्ञान लेन
हिए कि वे स्वस्थ हैं या नहीं, ताकि यदि उनमें कोई रोग हो, तो समय पर ही उसकी
चिकित्सा करवाई जा सके।

(ख) यह देखने के लिए कि शिशु के जन्म में कोई रुकावट न आए, सन्तति-
मार्ग (Birth canal) की जांच करवाना भी आवश्यक है। १०० में से ९९ स्त्रियों
के सन्तति-मार्ग में कोई रुकावट नहीं होती। शेष एक प्रतिशत स्त्रियों के लिए शिशु
को जगत में लाने के और भी उपाय हैं, जो डाक्टर से समझे जा सकते हैं।

(ग) भावी मां को सप्ताह में एक बार अपना मूत्र जांच करवा लेना चाहिये,
ताकि किसी रोग के तीव्र होने से पहले ही उसकी चिकित्सा करवाई जा सके।

(घ) यह देखने के लिये कि गर्भवती में रक्त की कमी (Anaemia) तो
नहीं या उसके रक्त में कोई ऐसा रोग तो नहीं, जो उससे शिशु को भी लग सके। उसे
अपना रक्त भी जांच करवा लेना चाहिए। सप्ताह में एक बार उसे अपना रक्त-दबाव
(Blood-Pressure) भी दिखा देना चाहिए।

इस प्रकार डाक्टरी जांच करवाने से यदि किसी रोग का पता चले, तो तुरन्त ही
उसकी चिकित्सा करवा लेनी चाहिए, ताकि शिशु रोग-रहित उत्पन्न हो।

शिशु का स्वागत

ज़रा कल्पना कीजिए कि आपके घर में कोई अतिथि आनेवाला है, ऐसी दशा में आपकी यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि आप उसके सत्कार के लिए आवश्यक वस्तुएँ पहले से ही एकत्र कर लें, ताकि आवश्यकता पड़ने पर आपको लज्जित न होना पड़े और यदि वह अतिथि ऐसा हो, जिसके पास अपना कोई निजी सामान ही न हो और वह आपके यहाँ आपके परिवार का सदस्य बनकर सदा के लिए आपके घर रहने के लिए आ रहा हो, तो क्या उसके स्वागत की समस्या और भी जटिल नहीं हो जाती ? आपको उसके लिए भोजन, वस्त्र और सुख-सुविधा की सभी वस्तुओं का संग्रह करना ही पड़ेगा।

इसी प्रकार जिस घर में शिशु के जन्म लेने की आशा हो, उस घर में उसके स्वागत के लिए सब आवश्यक सामान पहले से एकत्रित कर लिया जाना ही बुद्धिमत्ता है। आइये, हम यह देखने का प्रयत्न करें कि शिशु के स्वागत के लिए कौन-कौन-सी तैयारी करनी चाहिए और उसके आने पर उसका स्वागत कैसे करना चाहिए। हाँ, यह याद रखना परमावश्यक है कि आवश्यक सामान गर्भ के छठे मास के अंत तक जुटा लेना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि शिशु गर्भावधि पूर्ण किये बिना ही जन्म ले ले, जैसा कि कभी-कभी हो जाता है।

१ शिशु का सामान

(क) वस्त्र —

शिशु के सामान में सबसे मुख्य वस्तु उसके वस्त्र हैं। जीवन के प्रारंभिक दिनों में उसका विकास बड़ी शीघ्रता से होता है। अतः उसके वस्त्र एक वर्ष के शिशु के वस्त्रों के बराबर होने चाहिए। शिशु के लिए किन-किन वस्त्रों की आवश्यकता होगी, इसकी एक सूची नीचे दी जा रही है।

(१) कमीज़ :— शिशु के लिए सूती कमीज जो अधिक तंग नहीं होनी [illegible] बनाई गई है। शिशु की कमीजों में बटन नहीं होने चाहिए। कमीज के बाजू [illegible] चाहिए [illegible] यदि हाथ बाहर होने की आवश्यकता पड़े, तो वहीं बांध दे [illegible] यदि शिशु ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न हो, तो आधे बाजू ही उत्तम है। अच्छा तो यह है कि कमीज या फ्राक [illegible] अथवा बुनाई की बनी हो, ताकि पहनने अथवा उतारने में सुविधा रहे। ऐसे चार से छः या आठ पर्याप्त होंगे। शिशु यदि शरद ऋतु में उत्पन्न हुआ हो तो कुछ [illegible] ऊन के भी बनाये जा सकते हैं।

(२) लँगोट (diapers):—लँगोट ऐसे वस्त्र के बने हुए होने चाहिए, मुलायम हों और जो सोखने की शक्ति रखता हो। लँगोट दो प्रकार के वस्त्रों बनाये जा सकते हैं। एक तो जालीदार (gauze like) वस्त्र से जो २०"×४० ो। ऐसे लँगोट वजन में हलके, साफ करने में सुगम होते हैं और सूख भी शीघ्र ाते हैं। दूसरे प्रकार के लँगोट सूती कपड़े के २४"×२४" होते हैं। कुछ लोग तिकोने गोट भी बनाते हैं। ऐसे तीन दर्जन लँगोट पर्याप्त होंगे।

लँगोट के गीले हो जाने पर उसे तत्काल बदल देना चाहिए और गन्दे लँगोट को पानी में डाल देना चाहिए, बाद में उसे साबुन से धोकर सुखा लेना चाहिए। यदि रके, तो उसे उबाल लेना चाहिए। गन्दे लँगोट को छूने के उपरान्त माता को अपने साबुन से खूब मलकर धो लेने चाहिये।

(३) बिब (Bib).—जब दाँत निकलने लगते हैं, तो शिशु बहुत अधिक लार टपकाता है। इसलिए उसे बिब पहनाने की आवश्यकता होती है। ये ऐसे कपड़े के बने होने चाहिए, जो पानी को सोख सकें और नीचे पहने गये वस्त्र को गीला होने से बचा सकें। मोटे तथा जालीदार सूती वस्त्र फलालैन अथवा रोंवदार तौलिये के बने हुये बिब सर्वोत्तम हैं।

(४) मोजे:—यदि शिशु का जन्म शरद्-ऋतु में होना हो, तो दो जोड़े गर्म मोजे पहले ही तैयार करके रख लेने चाहिए।

(५) स्वेटर: – लगभग छ मास के आयु के शिशु के योग्य दो बढ़िया तथा मुलायम ऊन के स्वेटरों का प्रबन्ध भी कर लेना चाहिये। ये स्वेटर यदि कोट की भाँति बने हों, तो उत्तम है।

(६) ऊनी टोपी:—शरद्-ऋतु में उत्पन्न होनेवाले शिशु के लिये ऊनी टोपी बनायी जा सकती है। परन्तु अधिकांश शिशु टोपी पहनना पसन्द नहीं करते। इस-लिए यह न भी हो, तो कोई हानि नहीं।

(ख) बिस्तर:—

भारत में शिशुओं को माता से अलग सुलाने की प्रथा नहीं, परन्तु स्वास्थ्य को ष्टि से यह बात हानिकारक है। क्योंकि इससे शिशु को पर्याप्त मात्रा में शुद्ध वायु ीं मिल पाती, उसे हाथ-पाँव मारने का स्थान नहीं मिलता, कभी-कभी उसके दब ने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त उसे अकेला सोने की आदत नहीं ती। अतः उसके लिये अलग चारपाई का प्रबन्ध करना परमावश्यक है। चारपाई ब्रुत होनी चाहिये और सन या डोरी नेवाड़ की बनी होनी चाहिये। यह चारपाई ी ओर से छ से आठ इन्च ऊँची होनी चाहिए, ताकि शिशु तेज वायु में ान रह सके और चारपाई से उसके गिरने की सम्भावना न रहे। योग्य

यदि ऐसी चारपाई, जिसके ऊपर चारों ओर ६-६ इंच लम्बी पट्टियाँ हों, जो इतनी दूरी पर हो कि उनमें से शिशु का सिर न निकल सके, तो उत्तम है ।

चारपाई पर दरी बिछाकर उसके ऊपर कम्बल या गद्दा बिछा देना चाहिए, जिस पर मोमजामा (makintosh) डाल देना चाहिए । इन सबके ऊपर एक चादर होनी चाहिये, जो समय-समय पर बदल कर धोई जा सके । चारपाई यदि साधारण हो, तो इस बिस्तर पर लगाने के लिये चार तकियों का प्रबन्ध करना चाहिए, जिनके बीच में लेटकर शिशु सुरक्षित रह सके । इन तकियों पर बढ़िया गिलाफ होने चाहिए और उन्हें समय-समय पर बदल देना चाहिये ।

शिशु के ऊपर ओढ़ाने के लिये ऊनी कम्बल अथवा शालें सर्वोत्तम मानी गई हैं । रुई से भरी रजाइयां भारी होती हैं, उनसे वायु भी नहीं पहुँचती तथा वे इतनी गर्म भी नहीं होतीं इसलिए इनका प्रयोग न करना ही अच्छा है ।

चारपाई के ऊपर मच्छरदानी का होना अतिआवश्यक है । मच्छरदानी अच्छी तथा कोमल जाली की बनी होनी चाहिये । गर्मी के मौसम में मच्छरदानी लगाते समय चारपाई ऐसे स्थान पर बिछानी चाहिए, जहाँ स्वच्छ वायु आ रही हो, अन्यथा शिशु को गर्मी अनुभव होती है तथा उसे पर्याप्त वायु भी नहीं मिलती । आजकल छाता की शक्ल की छोटी-छोटी मच्छरदानियां मिलती है, जिनका उपयोग भी किया जासकता है ।

शरद्-ऋतु में बिस्तर को गर्म रखने के लिए गर्म पानी की बोतलें प्रयोग में लाई जा सकती हैं । यदि बोतलें न मिल सकें, तो नमक का ढेला, मिट्टी अथवा बालू गर्म करके काम में लाए जा सकते हैं । परन्तु ये सब वस्तुयें ढकी हुई होनी चाहिए, ताकि वे शिशु के शरीर को छूकर उसे जला न दें ।

इस प्रकार शिशु के बिस्तर के लिए निम्न-लिखित वस्तुओं की आवश्यकता होगी:—

(१) चारपाई
(२) दो मोमजामे
(३) दो गद्दे
(४) तीन चादर
(५) कम्बल अथवा शाल एक
(६) एक मच्छरदानी
(७) रबड़ की बोतल दो
(८) चार छोटे-छोटे तकिये

(ग) नहाने-धोने के सामान,—

(१) ढकी हुई साबुनदानी में मुलायम साबुन
(२) रोंएदार तौलिया

(३) बेबी पाउडर

(४) तेल

(५) जिंक का मरहम (Zinc ointment)

(६) टब

(ग) दूध पिलाने का सामान:—

(१) बोतलें: कम-से-कम तीन ऐसी बोतलें, जिनमें आधा सेर दूध आ जावे। हाँ, यदि बच्चे को काफी दिन माता का ही दूध पिलाना हो, तो ये बोतलें बाद में भी मँगाई जा सकती हैं।

(२) निपल:—तीन अच्छे रबड़ के माध्यम साइज के निपल बोतलों के साथ ही मँगवा लेने चाहिए।

(३) बोतल ब्रश और निपल ब्रश दो-दो।

(४) दूध अथवा पानी नापने के लिए गिलास।

(घ) कुछ अन्य सामान:—

यदि माता पिता इसका व्यय उठा सकें, तो निम्न सामान रखना भी अति उत्तम है।

(१) थर्मामीटर (Thermameter)

(२) स्टेरीलाइजर (Sterlizer)

अथवा

प्रेशर कुकर (Pressure cooker)

(३) कांटा (Scale)

(४) झूला एक

(५) बच्चा-गाड़ी (Pram)

(६) खिलौने यथेष्ट मात्रा में।

२. प्रसूति-गृह

आवश्यक सामग्री जुटाने के साथ-साथ यह निर्णय करना भी आवश्यक है कि शिशु का जन्म कहाँ करवाया जाय। घर में अथवा अस्पताल में। हमारे विचार से अस्पताल ही उत्तम है, पर यदि घर में ही करवाना हो, तो प्रसूति-गृह चुनने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। उसके साथ यह भी आवश्यक हो जाता है कि इस घर में जन्म करवाने के लिये कुछ अन्य आवश्यक सामान भी जुटा लें।

अच्छे प्रसूति-गृह ऐसे स्थान पर होते हैं, जहाँ धूल-धुआँ कम हो और शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा में मिले। यदि यह स्थान [illegible] ऊपर हो, तो और भी उत्तम है।

कमरा काफ़ी खुला और हवादार होना चाहिये, और उसमें पर्याप्त रोशनी का प्रबन्ध रहना चाहिए। शरद् ऋतु में उसमें हीटर या अँगीठी का प्रबन्ध भी रहना चाहिए। यदि हो सके, तो कमरे के निकट स्नान-गृह या शौचालय हो, यदि ऐसा न हो, तो वहीं कमोड आदि का प्रबन्ध कर देना चाहिये।

प्रसूति-गृह में कम से कम दो खिड़कियाँ होनी चाहियें, जो पूर्व या दक्षिण की ओर खुलती हों। खिड़कियों पर साफ़-सुथरे पर्दे होने चाहियें, जो समय-समय पर बदले जा सकें। ये पर्दे यदि गहरे हरे रंग के हों, तो अति उत्तम है।

कमरे के मध्य में चारपाई बिछी होनी चाहिए, जो खूब कसी हुई हो और जिस पर स्वच्छ बिस्तर बिछा हो। सबसे नीचे एक दरी या चादर होनी चाहिए, जिस पर गद्दा बिछा हुआ हो। गद्दे के ऊपर एक ओर चादर होनी चाहिये, फिर मोमजामा और उसके ऊपर एक और चादर बिछी हो। सिरहाने की ओर एक मुलायम तकिया और पैंताने की ओर एक कम्बल और एक चादर तह किये हुये होने चाहिए। चारपाई के पास एक स्टूल होना चाहिये, जिस पर ओषधियाँ रक्खी जा सकें। स्टूल के पास फल, दूध, खाना आदि रखने के लिए एक जालीदार अलमारी (Meal safe) होनी चाहिए। दीवार के साथ एक मेज़, जिस पर साफ़-सुथरा मेजपोश बिछा हो, सामान आदि रखने के लिए होना चाहिये।

शिशु के जन्म के कुछ दिन पहले कमरा खूब साफ़ करवा कर तथा जाला आदि उतरवा कर दीवारों पर सफ़ेदी करवा देनी चाहिए।

इस प्रकार प्रसूति-गृह के लिए निम्न-लिखित वस्तुओं की आवश्यकता होती है—

(१) खुला हवादार कमरा।
(२) बढ़िया कसी हुई चारपाई।
(३) चादर छ।
(४) कम्बल एक।
(५) दरी एक।
(६) मोमजामे दो।
(७) तकिया एक।
(८) गद्दा एक।
(९) स्टूल एक।
(१०) जालीदार अलमारी एक।
(११) मेज एक।
(१२) खिड़कियों के पर्दे चार।

जन्म के अवसर पर आवश्यक सामान

ताया जा चुका है, जन्म के अवसर पर (Birth Event) कुछ
आवश्यकता होती है। यदि जन्म घर पर ही करवाना हो, तो घर
का प्रबन्ध कर लेना चाहिये। उन वस्तुओं की सूची नीचे दी जा

दो रबड़ की बोतलें, जिन पर फलालैन का कवर चढ़ा हो।
का सामान।
या मलपात्र (Bed pan) तथा पिसपाट (urinal) एक एक।
एक
रेज़र एक
टीपिन एक दर्जन
खून साफ करने के ब्रुश दो
रुआ-आधा पौण्ड की शुद्ध (Sterlized) रुई के पैकेट दो
उबली हुई गाज़ का पैकेट एक
दो इन्च चौड़ी उबली हुई पट्टियां तीन
बोरिक एसिड (Boric Acid) का दस प्रतिशत घोल (Solution)
चार औंस
आर्जीरोल या प्रोटार्गोल (Argyrol or Protorgol) का दस प्रतिशत
घोल एक औंस
) सिल्वर नाइट्रेट (Silver Nitrate) का दो प्रतिशत घोल एक औंस
) ड्रापर (Dropper) एक
) ब्रान्डी (Brandy) चार औंस
) अरण्डी का तेल (Castor oil) चार औंस
(१६) ज़ैतून का तेल (Olive oil) चार औंस
(१७) एक्सट्रैक्ट अर्गट (Extract Ergot) एक औंस या अर्बोलीन (Erboline)
की गोलियां दस
(१८) टिंक्चर आयोडीन (Tincture Iodine) चार औंस
(१९) डेटाल (Dettol) एक शीशी
(२०) साबुन एक बट्टी
(२१) दवा पीने का गिलास एक
(२२) प्याले दो
(२३) १-८ इन्च चौड़ी उबली पट्टी एक

इसके अतिरिक्त कुछ घरेलू सामान की भी आवश्यकता पड़ती है, जो पहले ही अलग रख लेना चाहिये, ताकि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें खोजना न पड़े। इ घरेलू सामान का ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है—

(१) पानी पीने के गिलास दो
(२) छोटी चम्मच एक
(३) ट्रे (Tray) एक
(४) चिलमचियाँ दो
(५) बड़े जग दो
(६) उबले हुये तौलिये दो
(७) घड़ा एक
(८) उबला हुआ गर्म पानी पर्याप्त मात्रा में
(९) नाडू बाँधने के लिये मजबूत धागे दो
(१०) बच्चे को लपेटने के लिये एक गज चौड़ा एक गज लम्बा फलालैन का टुकड़ा एक
(११) अँगीठी या हीटर (Heater) या स्टोव (Stove) एक
(१२) लैंप एक*
(१३) टार्च (Torch) एक
(१४) साफ-सुथरे पुराने कपड़ों के टुकड़े पर्याप्त मात्रा में
(१५) घड़ी एक

४. शिशु-जन्म के लक्षण (Signs of Labour)

शिशु के आने का पहला लक्षण है योनि से थोड़े से रक्तमय पानी-जैसे पदार्थ का निकलना। इसके साथ-साथ कमर में नियमित अवकाश के बाद बार-बार पीड़ा का अनुभव होना। ये पीड़ा दुखते दाँत की पीड़ा के समान होती है, और निश्चित समय के बाद होती रहती है। पहले प्रसव के समय झूठी पीड़ायें भी होती हैं, जो कभी-कभी शिशु जन्म के १०-१२ दिन पहले ही होने लगती हैं। पर सच्ची पीड़ायें गर्भावधि की समाप्ति के निकट होती हैं। भावी माँ के सामने यह प्रश्न आना स्वाभाविक है कि सच्ची पीड़ायें कब आरम्भ होती हैं और उनकी पहचान क्या है। पीड़ायें कई कारणों से पेट अथवा कमर की दूसरे प्रकार की पीड़ाओं से भिन्न होती हैं। यह निश्चित समय की अवधि पर बार-बार होती हैं, अर्थात् दुखती निरन्तर रहती है। सच्ची पीड़ाओं के साथ-साथ गर्भाशय सिकुड़ता है। पीड़ा के समय यदि गर्भवती अपने

* यदि मकान में बिजली हो, तो भी लालटेन उसके जाने की दशा में अत्यावश्यक सिद्ध होगा।

पेट को छुए, तो उसे वहाँ गत्ते के समान ठोस पदार्थ का अनुभव होगा। जबकि पीड़ा शान्त होने पर पेट छूने पर ऐसा लगेगा, मानों वहाँ सने हुए आटे के समान कोमल पदार्थ पड़ा हो। झूठी और सच्ची पीड़ा का अन्तर यह है कि परीक्षक के द्वारा पेट पर हाथ रखे जाने से झूठी सिकुड़न और पीड़ा बन्द हो जाती है जबकि सच्ची पीड़ा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाता है, दो सच्ची पीड़ाओं के बीच का अन्तर कम होता जाता है। आरम्भ में यह अन्तर २० से ३० मिनट का होता है, जबकि बाद में यह केवल तीन-तीन, चार-चार मिनट का रह जाता है। इसके साथ-ही-साथ किसी विशेष पीड़ा का समय बढ़ता जाता है। आरम्भ में एक पीड़ा ३० सेकण्ड से कम समय के लिए होती है, जबकि बाद में इसका समय एक मिनट से भी अधिक हो जाता है।

सामान्यतः शिशु-जन्म की पीड़ायें कमर से आरम्भ होकर धीरे-धीरे पेट के निचले भाग तक आ जाती हैं। इन पीड़ाओं के समय योनि से गुलाबी रंग का तरल भी निकलता है। पर यह स्राव (Discharge) झूठी पीड़ाओं के स्राव से भिन्न होता है। झूठी पीड़ाओं का स्राव केवल अमिश्रित रक्त (Undiluted Blood) होता है, जबकि सच्ची पीड़ाओं का स्राव रक्त से सनी हुई झिल्ली जैसा होता है।

मैक्समिलियन मीयर (Maxmillian Meyer) ने लगभग डेढ़ लाख शिशु जन्मों का अध्ययन करके पता लगाया था कि अधिकांश जन्म १२ बजे रात से ३ बजे रात के बीच में होते हैं। ६-६ घंटे के समय विभाजन में जन्म इस प्रकार होते हैं।

६ बजे प्रातः से	१२ बजे	दोपहर	२६%
१२ „ दोपहर „	६ „	शाम	२२%
६ „ शाम „	१२ „	रात्रि	२४%
१२ „ रात „	६ „	प्रातः	२८%

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि गर्भावस्था में शिशु एक थैली में रहता है, जिसमें पानी-सा तरल पदार्थ भरा रहता है। सच्ची पीड़ायें आरम्भ होने पर यह थैली फट जाती है और पानी बाहर आने लगता है। कुछ देर बाद पीड़ा दुखती दाँत की पीड़ा के समान न रहकर शूल के समान हो जाती है। शिशु इस समय संसार में आने की तैयारी कर रहा होता है और फिर आधे घंटे से पाँच घण्टे के भीतर जन्म ले लेता है। सच्ची पीड़ाओं के समय चहल कदमी करने से समय शीघ्र कटता है और कार्य के शीघ्र होने में सहायता मिलती है। इस समय सुशिक्षित डाक्टर अथवा दीक्षित (Trained) नर्स को बुला लेना आवश्यक होता है।

५. नवजात शिशु

नवजात शिशु का कद २०" से २१" और वजन ३ से ३½ सेर (६ से ७ पौंड) होता है। उसके सिर की गोलाई १३" से १४" होती है। आरम्भ में सिर कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता है। जो बाद में धीरे-धीरे ठीक हो जाता है। सिर के बाल बहुत छोटे-छोटे होते हैं और कुछ शिशुओं के ये बाल जन्म के कुछ दिनों के भीतर गिर जाते हैं और फिर नये बाल उगने लगते हैं। नवजात शिशु की खोपड़ी की हड्डियाँ सुचारु रूप से परस्पर जुड़ी नहीं होती। यदि उसकी खोपड़ी पर अगले भाग में दबाया जावे जैसा कि चित्र में दिखाया गया है, तो वहाँ हड्डी का अभाव स्पष्ट मालूम होता है। कुछ मासों के भीतर हड्डियाँ बढ़कर अपने आप जुड़ जाती हैं।

शिशु किसी भी लिंग का क्यों न हो, उसकी छातियाँ कुछ बढ़ी हुई होती हैं, और उन्हें दबाने पर एक प्रकार का-रस भी निकलता है। उसके शरीर का रंग गुलाबी या गहरा लाल होता है। और वह एक चिपचिपी झिल्ली (Vernix caseasa) से ढका रहता है। शिशु का शरीर और हाथ पाँव के नाखून कोमल होते हैं। सामान्यतः नवजात शिशु के दांत नहीं होते। उसकी आँतों में काली जैली (Jelly)-जैसा पदार्थ होता है, जिसे मेकोनियम (Meconium) कहते हैं। इसलिये शिशु को पहली टट्टी काले रंग की आती है और बाद में धीरे-धीरे उसे पीले रंग की टट्टी आने लगती है। घुटने के नीचे की टांग कुछ नीचे झुकी हुई होती है, जिसका कारण यह है कि वह गर्भावस्था में एक विशेष दशा (Position) में रहता है। टांग का यह झुकाव भी कुछ दिनों में ठीक हो जाता है।

स्वस्थ नवजात शिशु अपने बाजू तथा टाँगें सुचारु रूप से हिला सकता है। आरम्भ में वह भली भांति देख नहीं पाता। धीरे-धीरे वह अंधकार तथा प्रकाश का अन्तर समझने लगता है, क्योंकि तेज रोशनी में वह नेत्र बन्द कर लेता है, और उसकी पुतलियाँ सिकुड़ जाती हैं तथा अंधकार में फैल जाती हैं। जन्म के पहले २४ घण्टे उसकी श्रवण-शक्ति भी पूर्णतया अनुपस्थित रहती है और कुछ दिनों में ही ठीक हो जाती है। इसी प्रकार आरम्भ में उसकी घ्राण-शक्ति (सूँघने की शक्ति) भी कम रहती है। वह किसी वस्तु का स्वाद नहीं ले पाता। इस प्रकार उसकी पांच ज्ञानेन्द्रियों में से चार (आँख, कान, नाक, जिह्वा) अपना कार्य जन्म के बाद ही आरम्भ करती हैं। स्पर्श किये जाने पर शिशु तत्काल ही समझ जाता है कि उसे स्पर्श किया

जा रहा है। नवजात शिशु में चूसने की प्रकृति जन्मजात होती है, और वह भलीभांति माता का दूध पीने की चेष्टा कर सकता तथा भूख लगने पर चिल्ला भी सकता है।

नवजात शिशु को छींक बहुत आती है, पर इसका कारण यह नहीं कि उसे सर्दी लग गई है। जन्म के कुछ घण्टों के भीतर सामान्यतः यह छींकें बन्द हो जाती हैं।

६. नवजात शिशु की देख-रेख

जीवन के पहले कुछ सप्ताह शिशु को विशेप सहारे की आवश्यकता होती है। जन्मोपरान्त उसे अपने को अनेक प्रकार से ऐसे वातावरण के अनुकूल बनाना पड़ता है, जो उन दशाओं से सर्वथा भिन्न है, जिनमें वह जन्म से पहले रहता था। जैसा पहले बताया जा चुका है, जन्म से पहले वह एक ऐसे तरल पदार्थ में रहता है, जो उसे गर्मी, सर्दी तथा झटकों आदि से सुरक्षित रखता है, परन्तु जन्मोपरान्त उसे पहले से कठोर बिस्तर पर सोना पड़ता है। उसे सांस लेने का ढंग सीखना पड़ता है और भोजन के लिये चेष्टा भी करनी पड़ती है। वह भिन्न-भिन्न प्रकार के हाथों में जाता है जिनका तापमान (Temperature) उसके शरीर के तापमान से काफी अधिक या काफी कम हो सकता है। अतः माता का यह कर्तव्य है कि वह उसे ऐसी दशाओं में रखे, जिनमें माता और शिशु दोनों को कष्ट कम-से-कम हो। आइये, हम यह देखें कि ऐसा किस प्रकार किया जा सकता है।

(क) नाड़ (chord)—

यह तो आपको ज्ञात हो ही गया होगा कि जन्म से पहले शिशु अपनी मां से भोजन तथा ओक्सजन जेर और नाड़ के द्वारा प्राप्त करता है। शिशु के उत्पन्न होने के २० मिनट के अन्दर जेर अपनी जगह छोड़कर बाहर आ जाती है। अब पहला कार्य यह होना चाहिये कि नाड़ काट कर शिशु को जेर से अलग किया जावे। कभी-कभी मां की कमजोरी या और किसी कारण जेर के बाहर आने में अधिक समय लग जाता है। ऐसी परिस्थिति में जेर के बाहर आने से पहले ही नाड़ काटकर शिशु को अलग कर लेना चाहिये। नाड़ काटने से पहले एक अच्छी तेज कैंची और दो मजबूत धागे किसी प्याले में पानी छोड़ कर १० मिनट तक खौला लेने चाहिए, ताकि वे कीटाणुहीन हो जावें। साबुन से हाथ धोकर नाभि से तीन इंच परे नाड़ को दो जगह आपस में एक इंच की दूरी पर धागों से बांध कर रीफ़ गांठ लगा देनी चाहिए। तब दोनों धागों के बीच कैंची से काटकर कटे हुए स्थान पर टिंक्चर आयोडीन लगा देना चाहिये और फिर ऊपर शुद्ध गाज रखकर शुद्ध पट्टी बांध देनी चाहिये। सामान्यतः शेष तीन इंच नाड़ एक सप्ताह के अन्त तक अपने आप सूख कर गिर जाता है। नाड़ के गिर जाने पर नाभि पर सिल्वर नाईट्रेट दो प्रतिशत लगा देना चाहिये ताकि उसमें मवाद (Pus) न पड़ सके।

(ख) श्वास —

यह देखना भी आवश्यक है कि नवजात शिशु का श्वास चल रहा है अथवा नहीं। कई शिशु ऐसे भी होते हैं जिन्हें जन्म पर जीवित होते हुये भी श्वासावरोध (Asphyxia) होता है और वे सांस नहीं लेते। अकसर ऐसे शिशु हमारी लापरवाही के कारण मर जाते हैं।

जन्म पर यदि किसी शिशु का श्वास न चल रहा हो, तो तुरन्त किसी योग्य डॉक्टर को बुलवाना चाहिए। डॉक्टर के आने तक शिशु को रुलाने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि रोने से उसके फेफड़ों (Lungs) में वायु जाती है, जिससे वे अपना कार्य करने लगते हैं और शिशु को सांस चलने लगती है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उपाय अपनाये जा सकते हैं:—

(१) शिशु का गला और नाक साफ कर देना चाहिये। इसकी विधि आगे बताई जा रही है।

(२) शिशु को टांगों से पकड़ कर उल्टा देना चाहिये और उसे पीठ पर थपथपाना चाहिये।

(३) शिशु के मुँह पर कपड़ा रखकर फूँक मारना चाहिये।

(४) बनावटी सांस (Artificial Respiration) देने का प्रयत्न करना चाहिये।

यदि ये उपाय असफल रहें, तो:—

(५) शिशु के शरीर पर बारी-बारी गर्म और ठण्डे पानी के छींटे मारने चाहिये या उसे बारी-बारी गर्म और ठण्डे पानी से नहलाना चाहिये।

(६) नाड़ को गर्म तवे पर रख कर गर्म करना चाहिये।

(ग) नेत्र—

नवजात शिशु के नेत्रों को बोरिक एसिड के १० प्रतिशत घोल से धोकर उनमें आरजीरोल या प्रोटार्गल घोल के १० प्रतिशत घोल की एक-एक बूंद डाल देनी चाहिये। इस प्रकार शिशु के नेत्रों को रोगी होने से बचाया जा सकता है। जन्म के पश्चात् १० दिन शिशु की आँखों को प्रतिदिन धोना आवश्यक है। आँखें धोने से पहले अपने हाथों को कार्बोलिक साबुन से धो लेना चाहिये। नेत्रों को पोंछ कर उन्हें बहुत धीरे हाथ लगाने चाहिये और उन्हें तेज प्रकाश से बचाना चाहिए।

(घ) मुख—

जन्म के उपरान्त शिशु के मुख को कोमल साफ कपड़े अथवा रुई से पोंछ लेना चाहिए। एक बार का टुकड़ा छोटी अंगुली पर लपेट कर उसका तालु और ... देना चाहिए।

(ङ) नाक—

इसी प्रकार उसकी नाक साफ करके उसमें पड़े हुये जाले (Mucus) को निकाल देना चाहिये। शिशु की नाक को कभी भी रुई की बत्तियों से साफ न करना चाहिये। इसके लिये शुद्ध, कोमल, गीला कपड़ा ही उत्तम है।

(च) लिङ्ग—

नवजात शिशु के लिङ्ग की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। यह देख लेना चाहिये कि जन्म के उपरान्त तत्काल ही उसने टट्टी तथा पेशाब किया है अथवा नहीं। यदि टट्टी या पेशाब दोनो न किया हो, तो शीघ्र ही किसी योग्य चिकित्सक की राय लेनी चाहिये। कई नवजात शिशुओं के मलमूत्र का सुराख बन्द होता है। अतः उन्हें खुलवा लेने की आवश्यकता होती है। शिशु को टट्टी के लिये एरण्ड का तेल (castor oil) देना हानिकारक है।

(छ) स्नान—

नवजात शिशु के शरीर से झिल्लियों को साफ करने के लिये उसे स्नान करवाना अत्यावश्यक है। उसे गर्म कमरे में थोड़ा गर्म जल से साबुन से नहलाना चाहिये और फिर उसका शरीर रोयेंदार शुद्ध तौलिये से पोंछ देना चाहिये। शरीर पर अच्छा-सा तेल या कीटाणु-नाशक (Antiseptic) मरहम लगाकर ऊपर से अच्छा-सा पाउडर छिड़क देना चाहिये। ठंडे पानी से अथवा खुली हवा में शिशु को स्नान न करवाना चाहिए, क्योंकि इससे उसे ठण्ड लग जाने का भय होता है। जब तक नाड़ का घाव ठीक न हो जाय तब तक उसे टब में नहीं नहलाना चाहिये।

(ज) वस्त्र—

स्नान के उपरान्त नाड़ की भीगी हुई पट्टी उतार कर वहां साफ-सुथरी सूखी पट्टी बांध देनी चाहिये और फिर फ्राक और लँगोट पहना देना चाहिये। शिशु के वस्त्र कैसे हों इसका निर्णय जल-वायु, कमरे की दशा और शिशु के स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। कमरा यदि ठण्डा हो, तो शिशु को शाल आदि में लपेट देना चाहिये।

(झ) तौल—

बच्चे का तौल लेकर उसे नोट कर लेना चाहिये।

(ञ) दूध—

नवजात शिशु को प्रथम दूध डॉक्टर अथवा नर्स के सामने ही पिलाना चाहिये, ताकि वह उसकी पाचन-क्रियाओं का निरीक्षण सुचारु रूप से कर सके। माता का दूध पीना शिशु का जन्मसिद्ध अधिकार है।

जन्म के लगभग १२ घण्टे बाद जबकि माता ने भी पर्याप्त निद्रा और विश्राम कर लिया हो, शिशु को पाँच मिनट के लिये दूध पिलाना चाहिये। आरम्भ में शायद वह इस योग्य न हो कि वह छाती का दूध पी सके। अतः इससे माता को घबड़ाना नहीं

(ख) उपर्युक्त ज्ञान के आधार पर बालक की क्रियाओं में मनोनुकूल सुध
ताने तथा उसके उचित विकास के साथ २ वातावरण को भी सुधारने के उपाय बता
दूसरा मुख्य उद्देश्य है।

(ग) बाल मनोविज्ञान के आधार पर बालकों का शारीरिक, मानसिक, चरि
त्रिक तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी विकास करते हुए उन्हें सुयोग्य नागरिक बनाना।

(घ) बुद्धि परीक्षा (Intelligence Tests) के द्वारा बालकों के मानसि
झुकाव (Aptitude) का अध्ययन कर उन्हें उचित शिक्षा प्रदान करने का प्रब
करना।

२. अध्ययन की विधियां (Methods of Study)

बालमन के वैज्ञानिक अध्ययन की निम्नांकित प्रणालियाँ हैं।

(क) अन्तर्दर्शन (Introspection)
(ख) बहिर्दर्शन (Observation)
(ग) प्रयोग (Experiments)
(घ) प्रश्नावली (Questionnare)
(ङ) तुलना (Comparison)
(च) चित्तविश्लेषण (Psycho-analysis)

(क) अन्तर्दर्शन—

वी० एन० झा के अनुसार "अन्तर्दर्शन स्वयं अपने मन के भीतर देखने की क्रि
है। यह एक प्रकार का आत्म निरीक्षण है जिसमें हम अपनी ही भावनाओं को देखते
उनका विश्लेषण (Analysis) करते हैं और उन्हें व्यक्त करते हैं।" इस प्रकार ह
अन्तर्दर्शन के द्वारा अपने मन की क्रियाओं के आधार पर दूसरों के मन की क्रियाओं
समझने का प्रयास करते हैं। परन्तु इस अध्ययन विधि में कई त्रुटियाँ भी हैं। ज्यों ही ह
अपनी किसी मानसिक क्रिया का अध्ययन करने लगते हैं, त्योंहि हमारी मानसिक दशा
परिवर्तन हो जाता है। अतः किसी भी मानसिक दशा का सम्यक अध्ययन अन्तर्दर्श
के द्वारा सम्भव नहीं हो पाता। साथ ही साथ जहाँ तक बाल-मनोविज्ञान का सम्बन
है, एक दूसरी कठिनाई भी उपस्थित हो जाती है। हमारा मानसिक स्तर बालक
मानसिक स्तर में उच्च तथा अनुभव शील होता है। अतः यह आवश्यक नहीं कि किसी
मानसिक दशा सम्बन्धी हमारे अनुभव उस दशा के बालक की मानसिक भावनाओं
अनुरूप हों। फिर भी हम बिना अपने मन को समझे दूसरों, विशेष कर बालक के मन
को समझ नहीं सकते इसलिये बाल मन के अध्ययन के लिये अन्तर्दर्शन की कुछ न कुछ
आवश्यकता पड़ती ही है।

(ख) बहिर्दर्शनः—

बहिर्दर्शन बाल-मनोविज्ञान का सबसे मुख्य उपकरण है। बालक स्वभाव से अपनी चित्तवृत्ति और भावनाओं के अनुसार व्यवहार करता है। उसका उठना-बैठना, बोलना-चालना, हँसना-रोना स्वाभाविक ही होता है। निरीक्षक उसके उन सभी व्यवहारों को ठीक-ठीक देखता और लिखता है, पर वह उसके किसी भी कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता। बाल-मनोवैज्ञानिकों ने इस उपकरण का उपयोग विशेषतया माता-पिता अथवा निकट सम्बन्धियों द्वारा ही करने को बताया है। इनमें माता ही सबसे अधिक उपयुक्त है, क्योंकि माता के सम्पर्क में बालक स्वतन्त्र रूप से अपने व्यवहारों का प्रदर्शन करता है। अच्छी निरीक्षिका बनने के लिये माता का सुशिक्षित होना अत्यावश्यक है। माता-पिता के बाद अन्य घनिष्ठ सम्बन्धी तथा अध्यापकगण भी अच्छे निरीक्षक हो सकते हैं।

(ग) प्रयोग—

प्रयोगात्मक विधि से बाल-मन के अध्ययन में विशेष सुविधा प्राप्त हुई है। इस विधि का उपयोग प्रयोगशाला (Laboratory) में किसी बालक-विशेष को विषय (Subject) बना कर किया जाता है। वातावरण परीक्षक का पूरा नियन्त्रण होता है। कोई निश्चित मानसिक क्रिया विशेष चुन ली जाती है और उसे उपयुक्त वातावरण के आयोजन से कृत्रिम रूप से विषय में उत्पन्न किया जाता है। यद्यपि इस विधि में बालक को बहिर्दर्शन की सी स्वतन्त्रता नहीं रहती, फिर भी इसके द्वारा उसकी रुचि, ध्यान, स्मृति, तर्क तथा विविध मानसिक गुणों तथा विलक्षणताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्रयोग के द्वारा मनोवैज्ञानिक दो बातें मालूम कर सकते हैं। एक तो यह कि बच्चों के अन्दर कौन-कौन सी स्वाभाविक शक्तियाँ कितनी-कितनी मात्रा में उपस्थित हैं और दूसरी यह कि इन स्वाभाविक शक्तियों का उपयोग कैसे किया जा सकता है।

(घ) प्रश्नावली—

मनोवैज्ञानिक बालमन का अध्ययन करने के लिये कुछ चुने हुये प्रश्नों को (जैसे आपके बालक किस प्रकार के खेल पसन्द करते हैं? किन-किन वस्तुओं को अधिक चाहते हैं? किन-किन वस्तुओं से डरते हैं इत्यादि, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रहनेवाले अभिभावकों के पास भेज देते हैं तथा उनसे प्राप्त उत्तरों के आधार पर वे बालकों की कल्पना, रुचि, खेल, भाव, विचार आदि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते हैं। अधिकतर इस विधि का उपयोग विद्यालयों में होता है, परन्तु इसमें भी कुछ त्रुटियाँ हैं। सभी लोग प्रश्नों का उत्तर देने में कुशल नहीं होते। उनके उत्तरों पर समान रूप से विश्वास नहीं किया जा सकता। उत्तर

देने में सभी लोगों की रुचि भी नहीं होती। कुछ लोग तो उत्तर भेजते ही नहीं और कुछ यों ही खाना पुरी करके भेज देते हैं। अत: उत्तरों में सत्यता और स्वाभाविकता के अभाव की सम्भावना रहती है।

(ङ) तुलना—

इस विधि मे बालकों और पशुओं के प्रारंभिक जीवन का तुलनात्मक अध्ययन करके बाल-मन को समझने का प्रयास किया जाता है। बालकों में पशुओं को भाँति कुछ स्वाभाविक शक्तियाँ पाई जाती हैं। जिस प्रकार पशु के बच्चे को कोई दूध पीना, उठना-बैठना नहीं सिखाता, उसी प्रकार बालक भी स्वभाव से माता का दूध पीना, रोना आदि जानता है। इस पद्धति के द्वारा मनोवैज्ञानिक तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर बालमन को जानने का प्रयत्न करते हैं।

(च) चित्त विश्लेषण—

इस पद्धति के द्वारा अचेतन मन का अध्ययन किया जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति के बाल्यकाल के सस्कारो को जाना जा सकता है। फ्रायड (Freud) के अनुसार मन का $\frac{7}{8}$ भाग छिपा रहता है अर्थात् अचेतन होता है। और $\frac{1}{8}$ भाग जाग्रत अथवा चेतन। धीरे-धीरे शैशव के संवेगात्मक अनुभवों के प्रभाव से अचेतन मन इतना प्रबल हो जाता है कि व्यक्ति को सारी क्रियाओं पर इसका नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। ऐसी दशा मे व्यक्ति विक्षिप्त अथवा पागल भी हो सकता है। व्यक्ति के ऐसे व्यवहारों को समझने के लिये फ्रायड ने चित्तविश्लेषण-पद्धति का आविष्कार किया है। इस विधि मे व्यक्ति के स्वप्न (Dreams) शब्द-साहचर्य (Word-Association) स्वतन्त्र-साहचर्य (Free-Association) और सम्मोहन (Hypnotism) द्वारा उसके मन और व्यवहारों को समझने का प्रयास किया जाता है।

३. बाल-विकास की अवस्थायें—

(Phases of child-development)

बालक की मानसिक योग्यताओं का विकास किस क्रम से होता है, इस विषय में कुछ वर्ष पहले विद्वानों मे बहुत मतभेद था। कुछ विद्वानों का मत था कि बालक की मानसिक प्रक्रियाओं का विकास एक क्रम मे होता है। कुछ मानसिक गुण अन्य गुणों से पहले उत्पन्न होते हैं और कुछ बाद मे। इस प्रकार मानसिक प्रक्रियाओं का क्रमिक विकास होता है। स्मृति-तर्क-शक्ति के उत्पन्न होने से काफी पहले उत्पन्न होती है। इस सिद्धान्त को क्रमिक विकास का सिद्धान्त (Theory of Periodic Development) कहते हैं। अन्य विद्वानों का मत है कि व्यक्ति को सभी मानसिक प्रक्रियायें जन्म से ही विकसित होने लगती हैं। सभी का विकास एक साथ ही आरम्भ होता है। इस

सिद्धान्त को समकालिक विकास का सिद्धान्त (Theory of concomitant deve-
opment) कहते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक दूसरे मत को ठीक मानते हैं।
वास्तव में ही मनुष्य की सभी मानसिक प्रवृत्तियों का विकास एक साथ ही होता है।
जन्म से ही उसमें सभी प्रवृत्तियों की जड़ विद्यमान होती है और सभी धीरे धीरे विक-
सित होती हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने बाल-विकास को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है।

- (क) शैशव (Infancy)
- (ख) बाल्यकाल (Childhood)
- और (ग) किशोरावस्था (Adolescence)

प्रत्येक अवस्था ६ वर्ष की मानी गई है। इस प्रकार ६ वर्ष की आयु तक के काल को शैशव, ६ से १२ वर्ष तक की आयु को बाल्यकाल और १२ से १८ वर्ष तक की आयु को किशोरावस्था का नाम दिया गया है। प्रत्येक अवस्था को दो समान भागों में बाँटा गया है। प्रत्येक भाग तीन ३ वर्ष का है जैसे पूर्व बाल्यकाल (Early Childhood) और उत्तर बाल्यकाल (Later Childhood) प्रत्येक काल के इन दो भागों की विशेषता यह है कि पूर्व काल में शिशु मानसिक, शारीरिक और चारित्रिक आदि गुणों का संचय करता है। इस काल में इसकी सभी प्रकार की वृद्धि बड़ी तीव्र गति से होती है। इस समय शिशु की जिज्ञासा तीव्र होती है और वह नवीन गुणों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसके विपरीत उत्तर काल में संचित गुणों का परिपाक करता है। उनको दृढ़ करता है। उसकी वृद्धि पहले की भाँति द्रुत गति से नहीं होती, अपितु वह पूर्व प्राप्त वृद्धि या विकास को स्थिर मजबूत रखने का प्रयास करता है। विकास की इन तीनों अवस्थाओं में शिशु किन-किन विभिन्न गुणों का संचय और परिपाक करता है इस सम्बन्ध में कुछ शब्द जोड़ना आवश्यक प्रतीत होता है।

(क) शैशव—

शैशव व्यक्ति के जीवन की नींव है। इस काल में व्यक्ति अपने आस-पास के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। तथा अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को काम में लाना सीखता है। उसके स्नायुओं (Nerves) में परिपक्वता आती है तथा चलना, बोलना, सुनना और लोगों को पहचानना सीख जाता है। गेसल ने शैशव में शिशु के व्यवहारों को ४ भागों में विभक्त किया है।

1. (१) चेष्टा-सम्बन्धी व्यवहार (Motor)
2. (२) भाषा ,, (Language)
3. (३) परिस्थिति के अनुकूल कार्य करने की चेष्टा (Adoptive)
4. (४) व्यक्तिगत सामाजिक व्यवहार (Personal Social)

(१) चेष्टा-सम्बन्धी व्यवहार:—जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही शिशु हाथ पांव चलाता है और अपने सिर को बार २ उठाने का प्रयास करता है। धीरे २ वह कुछ मासों में बैठना, खड़ा होना और चलना भी सीख जाता है। उत्तर शैशव काल में (३-६ वर्ष) में उसमें रचनात्मक प्रवृति बड़ी तीव्र हो जाती है। वह वस्तुओं को तोड़-फोड़ कर उनकी रचना अपनी ही विधि से करने की चेष्टा करता है। अतः शिशु को ऐसे खिलौने देने चाहिये, जिनसे अनेक प्रकार की वस्तुयें बनाई जा सकें।

(२) भाषा विकास:—जीवन के प्रारम्भिक कुछ मासों तक शिशु कुछ भी बोलने की चेष्टा नहीं करता। परन्तु ८ मास के उपरान्त वह कुछ निरर्थक शब्दों का उच्चारण करने लगता है। धीरे २ दो वर्ष की आयु तक वह लगभग दो सौ शब्दों को बोल लेता है इसके उपरान्त भाषा का विकास बड़ी शीघ्रता से होता है और शैशवावस्था के अन्त तक वह लगभग २५०० शब्दों का प्रयोग करने लगता है।

(३) परिस्थिति की अनुकूलता:—इस अवस्था में शिशु परिस्थिति के अनुकूल कार्य करने का प्रयत्न करता है। इसलिए उसके विकास में वातावरण (Environment) का विशेष हाथ है। मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि शिशु का शैशवकालीन विकास मनोवैज्ञानिक ढंग से होना चाहिये। उन्हें माता-पिता और घरेलू वातावरण के भरोसे छोड़ देना हानिकारक है। इसीलिये उनका विचार है कि शिशुओं के लिये नर्सरी (Nursary) स्कूल खोले जाने चाहिये। वहां पर उनका स्वाभाविक विकास सम्भव है, क्योंकि वहां उनको ऐसा वातावरण मिलता है जिसमें उनका किसी प्रकार का दमन नहीं होता। जो मा बाप शिशु को नर्सरी स्कूल न भेज सकें, उन्हें चाहिये कि वे घर में ही ऐसा वातावरण बनाने का प्रयास करें, जिसमें शिशु की किसी इच्छा का दमन न हो।

(४) व्यक्तिगत सामाजिक व्यवहार:—यह काल मनोवैज्ञानिकों के अनुसार आत्मप्रेम (Autoerotism) का है। शिशु अपनी क्रियाओं में इतना व्यस्त रहता है कि उसके सामने सामाजिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यों तो वह जन्म से ही सामाजिक है। परिचित व्यक्ति को देखकर ६ मास का शिशु मुस्कराने लगता है। पर वह सामाजिक कार्यों में सक्रिय भाग नहीं ले पाता। उत्तर शैशव काल में यह दूसरे बालकों के सम्पर्क में आता है तो उसके सामाजिक गुण, मित्रता, प्रेम, स्पर्धा, सहानुभूति आदि प्रकट होने लगते हैं।

शैशव-काल के कुछ विशेष लक्षण—

(१) शिशु दूसरों पर आश्रित होता है। वह इस योग्य नहीं होता कि अपना कार्य स्वयं कर सके। उत्तर काल में उसमें स्वतन्त्रता की भावना आने लगती है और वह अपना हर काम स्वयं करने का प्रयत्न करता है।

(२) शिशु के व्यवहार युक्ति (logic) पर आधारित नहीं होते। उनका आधार मूल-प्रवृत्ति (Instinct) होता है। वह अपने कार्यों को तर्क की कसौटी पर नहीं कसता।

(३) शिशु कल्पना जगत का निवासी होता है। उसकी कल्पना-शक्ति (Immagination) बड़ी तीव्र होती है। उसकी कल्पना और वयस्क की कल्पना में अन्तर है। वयस्क जो कल्पना करता है, उसे वह सत्य नहीं मानता पर शिशु जो कल्पना करता है, उसे सत्य मानता है, दो वर्ष का शिशु जब दीवार पर बैठ कर गाड़ी की यात्रा करने की कल्पना करता है, तो वह समझता है कि वास्तव में ही वह गाड़ी पर सवार है।

(४) शिशु में अनुकरण की प्रवृत्ति बड़ी तीव्र होती है। वह जो कुछ देखता है, उसे अपने खेल (Play) में दुहराता अवश्य है।

(५) पूर्व शैशव काल में शिशु केवल अपने को ही प्रेम करता है। उत्तर काल में प्रेम की दिशा में कुछ परिवर्तन आ जाता है। वह अपने माता-पिता से भी प्रेम करने लगता है। फ्रायड का मत है कि शिशु का प्रेम अपने विपरीत लिंग के अभिभावक से होता है। शिशु-बालिका अपने पिता से प्रेम करती है। वह जब देखती है कि उसकी माता भी उसके पिता से प्रेम करती है, तो वह उससे ईर्ष्या करने लगती है। उसके मन में माता के विरुद्ध ग्रंथि (Complex) पड़ जाती है। इसे इलैक्ट्रा ग्रंथि (Elektra Complex) कहते हैं। इलैक्ट्रा नाम की एक कन्या पिता का प्रेम पाने के लिये माता से द्वेष करती थी। शिशु-बालक अपनी माता से प्रेम करते हैं और इस सम्बन्ध में पिता को प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं। उसके मन में भी पिता के विरुद्ध ग्रंथि होती है, जिसे ओडीपस ग्रंथि (Oedipus Complex) कहते हैं। ओडीपस नाम के एक बालक ने माता का प्रेम पाने के लिये अपने पिता की हत्या कर दी थी।

आधुनिक विद्वानों के अनुसार फ्रायड के इस मत में अतिशयोक्ति (Hyperbole) का पुट है। शिशु अपने विपरीत लिंग के अभिभावक से अवश्य अधिक प्रेम करता है, पर दूसरे से भी प्रेम करता है ईर्ष्या नहीं। हां, ईर्ष्या जाग्रत् हो सकती है, यदि शिशु यह समझने लगे कि उसका प्रिय अभिभावक उससे अधिक दूसरे से प्रेम करता है। यह ईर्ष्या समलिंग के अभिभावक के प्रति ही नहीं, किसी भी व्यक्ति के प्रति हो सकती है। अतः इसे मातृविरोधी अथवा पितृविरोधी ग्रंथि कहना अनुचित है।

(ख) बाल्यकाल—

बाल्यकाल ६ वर्ष की आयु में आरम्भ होता है और लगभग १२ वर्ष की अवस्था तक रहता है। इस काल में बालक का शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक विकास बड़ी तीव्र गति से होता है और वह तरुण जीवन में प्रवेश करने की तैयारी कर लेता

है। इस काल के प्रथम भाग में बालक बड़े वेग के साथ उन्नति करता है जबकि द्वितीय भाग में उन्नति की तीव्रता कम हो जाती है। उसमें वह संचित उन्नति को दृढ़ करता है।

बाल्यकाल में बालक में एक सयानापन आने लगता है। उत्सुकता की भावना बहुत ही प्रबल हो जाती है और वह प्रत्येक वस्तु के स्वभाव को जानना चाहता है। यही कारण है, कि बालक वयस्क लोगों से हजारों प्रश्न करता है, जिनका उत्तर देते २ लोग थक जाते हैं। इस काल में अनुकरण की प्रवृत्ति भी बड़ी तीव्र होती है और इसके आधार पर वह बहुत-सी नई बातों को सीखता है।

दूसरे शिशुओं के साथ व्यतीत होनेवाले समय की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अब वह केवल अपने में ही तल्लीन नहीं रहता बल्कि दूसरों का साथ ढूंढ़ता है। वह अपने समवयस्कों के साथ रहना चाहता है और उनके प्रेम के लिये अपने स्वार्थ को सहज में त्याग देता है। फ्रायड के अनुसार बालक का माता या पिता के प्रति प्रेम अब साथ के खेलनेवाले समवयस्क समलिंग के बालकों के प्रति परिवर्तित हो जाता है।

नैतिकता की भावना भी इसी अवस्था में उत्पन्न होती है। बाल-समाज के नियमों के पालन के लिये बालक बहुत प्रयत्नशील रहता है, क्योंकि अपने समाज में प्रशंसित होने की उसे बहुत इच्छा रहती है।

बालक का भाषा-ज्ञान इस काल में तीव्र गति से बढ़ता है। वह अपने साथियों से भी बहुत कुछ बोलना-चालना सीखता है। इस अवस्था में बालक को कहानियाँ सुनाना और उससे कहानियाँ कहलवाना बहुत लाभदायक है। शिक्षा के लिये बालक को ऐसे अनेक प्रकार के कार्य देने चाहिये, जिनमें वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का खूब उपयोग कर सके।

बालक किसी प्रकार के हस्तक्षेप को सहन नहीं करता। इसका कारण यह नहीं कि वह उजड्ड हो रहा है, बल्कि इसका कारण यह है कि उसकी चेतना पहले से दृढ़ होती जा रही है। जब कोई उसे उत्तेजित करता है, तो वह उससे बदला लेने को सोचता है, पर अपने इस भाव का वह दमन अवश्य करता है। दमन के प्रभाव से उसमें कुछ अवांछनीय आदतें भी पड़ सकती हैं। जैसे आँखें झपकना, कन्धा झटकारना, टाँगें हिलाना, नाखून कुतरना, चेहरा बिगाड़ना, सूसा खींचना इत्यादि। इस प्रकार आदतें सामान्यतः उन्हीं बालकों में पड़ती हैं, जिनके माता-पिता आवश्यकता से अधिक कठोर (strict) होते हैं। इन आदतों के लिये बालक को कभी बुरा-भला नहीं कहना चाहिये, क्योंकि इन पर उसका वश नहीं होता।

बाल्यकाल का महत्त्व इसलिये भी है कि बालक इसी काल में स्कूल जाता है। विद्यालय का प्रथम प्रभाव बालक पर ऐसा होना चाहिये कि वह उसकी ओर आकृष्ट हो जाय। विद्यालय का वातावरण घर की भांति होना अत्यावश्यक है।

ग) किशोरावस्था—

कैशोर्य १२ से १८ वर्ष की आयु का नाम है। किशोर काल को जीवन के
कालों का राजा माना जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने किशोरावस्था और यौवनो
(Puberty) का अटूट सम्बन्ध माना है। इस काल में बालक की शारीरिक
मानसिक प्रवृत्तियों का बहुत ही तीव्रता से विकास होता है। इस विकास की
के सम्बन्ध में दो मत हैं। हाल-जैसे विद्वान् त्वरित विकास के सिद्धान्त (The
of Salatory Development) में विश्वास रखते हैं। उनका मत है कि
जब किशोरावस्था में प्रवेश करता है, तो एक समय ऐसा आता है, जब उसकी प्रवि
में अकस्मात् परिवर्तन आ जाता है। थार्नडाइक और किंग सरीखे विद्वान्
विकास के सिद्धान्त (Theory of Gradual Development) को मान
उनका विचार है कि व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं में क्रमशः परिवर्तन होता है

जो भी हो, इस अवस्था में व्यक्ति की वृद्धि काफी गति से होती है। कि
वस्था में बालक में दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं।

(१) शारीरिक परिवर्तन (Physical changes)
(२) मानसिक परिवर्तन -(Mental changes)

(१) शारीरिक परिवर्तन—किशोरावस्था में बालक का शरीर बड़ी तीव्रता से
है। विशेषकर जननेन्द्रियों (Sex-organs) का विकास इसी काल में होत
बालिकाओं के पयोधरों (Breasts) की वृद्धि और मासिक रजोदर्शन उसी
होता है। बालकों का वीर्यस्राव (Discharge) भी किशोरावस्था में ही होत
के (Key) महोदय ने स्वीडन में १५००० लड़कों और १००० लड़कियों का
करके पता किया था कि इस काल में कद और वजन बहुत ही तीव्र गति से बढ़
प्रकार किशोरावस्था में ऊँचाई वजन से भी शीघ्रता से बढ़ती है। इस दशा में
के शरीर की ग्रंथियाँ (glands) विशेषकर चुल्लिका (Thyroid) और
(Adernal) बहुत अधिक रस उत्पादन करने लगती है, जिससे शारीरिक
बड़ी शीघ्रता से होता है। किशोर अपने शरीर में एक नये प्रकार की श
अनुभव करता है।

(२) मानसिक परिवर्तन—किशोरावस्था के मुख्य परिवर्तन मानसिक
वर्तन हैं।

(१) कल्पना किशोर का जीवन कल्पनामय होता है। जो कुछ
अपने वास्तविक जीवन में अनुभव करता है, उसे वह अपनी कल्पना में पूर्ण क
है। वह आदर्श जगत का निवासी होता है और अपने आदर्शों के लिये बड़े
बलिदान करने को तत्पर रहता है। कल्पना की अधिकता कभी २ बाद के जी
बड़ा कटु बना देती है। अतः माता-पिता का यह कर्तव्य है। कि वे उसे सदा क

क में विचरने ही न दें। उसे वास्तविक जीवन का ज्ञान भी करवाएं। इसके अतिरिक्त क का उपयोग करने के लिये उसे सदा किसी-न-किसी काम में लगाये रखें, था अपनी शक्ति का उपयोग वह कल्पना करने में लगायेगा।

) मानसिक स्वतन्त्रता—किशोर मानसिक दृष्टि से स्वतन्त्र रहने का प्रयास ता है। वह अपने प्रत्येक कार्य में मनमानी करना चाहता है, और किसी भी र के हस्तक्षेप को सहन नहीं करता। शिशु की भांति व्यवहार करते हुए भी वह नहीं चाहता कि कोई उससे ऐसा सलूक करे, जैसा बच्चों के साथ किया जाता है। शोर के साथ व्यवहार करते समय माता-पिता को उसे कदापि बालक नहीं समझना हुए, अन्यथा उसकी भावनाओं को ठेस पहुँचती है।

) परस्पर विरोधी चित्तवृत्तियाँ (Moods) —

किशोरावस्था में व्यक्ति की चित्तवृत्ति स्थिर नहीं रहती, अपितु क्षण-क्षण बदलती ो है। अभी-अभी वह सक्रिय है, तो अभी वह सुस्त और काहिल हो जाता है। एक पहले वह स्वार्थी है, तो एक क्षण बाद परमार्थी बन जाता है। इसका कारण यह क उसका भावनात्मक जीवन (Emotional life) सन्तुलित (Balanced) होता।

) वीर-पूजा (Hero-worship)—

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि किशोर में शक्ति का संचार होता है। वाली व्यक्ति वीर बनता है और वीरों की पूजा करता है। किशोर भी अपने देश र संसार के किसी जीवित या मृत नेता, सैनिक, शहीद अथवा महापुरुष को अपना र्श बना लेता है और अपने चरित्र को उसी के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है।

) परमार्थ भावना और सामाजिकता—

धीरे-धीरे व्यक्ति स्वार्थ को छोड़ परमार्थ की ओर आकृष्ट होता है। शैशव में वल अपने अथवा माता-पिता के स्वार्थ को सर्वोपरि समझता है, बाल्यकाल में पने मित्रों के लिये अपना स्वार्थ बलिदान करने को उद्यत हो जाता है, पर कैशोर्य मार्थ अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। उस पर "वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् संसार ही अपना घर है' की उक्ति चरितार्थ होती है। इसी प्रकार किशोर ोपन को छोड़ सामाजिकता की ओर पदार्पण करता है। वह समाज के कार्यों में भाग लेने को सदा तत्पर रहता है।

विचरण—

किशोरावस्था में घूमने की प्रवृत्ति बड़ी तीव्र होती है। किशोर को घर में ऐसे है, जैसे उसका दम घुट रहा हो। स्कूल के कार्य से भी वह ऊब जाता है। घर और

…ल उसे जेल के समान प्रतीत होते हैं। वह अपना एक नया संसार बनाना चाहता है, …समे वह स्वयं राजा हो और स्वयं प्रजा, जिसमे किसी का भी कोई हस्तक्षेप न हो। …सी काल्पनिक संसार को खोजने के लिये वह अपना सारा समय घर और स्कूल से …हर बिताना चाहता है।

(७) यौनिक चैतन्य (Sex consciousness)—

कामुकता की प्रवृत्ति इसी काल मे जाग्रत होती है। और वह व्यक्ति के भावना-…क और बौद्धिक व्यवहारों पर बहुत प्रभाव डालती है। व्यक्ति शैशव मे अपने आपसे …र अपने माता-पिता से प्रेम करता है। बाल्यकाल मे प्रेम की दिशा परिवर्तित हो …ती है और वह अपने समवयस्क समलिंग के साथियो से प्रेम करने लगता है। …कशोरावस्था में प्रेम की दिशा में फिर परिवर्तन आता है और व्यक्ति अपने सम-…यस्क विपरीत लिंग के व्यक्तियों की ओर आकृष्ट होता है। काम वासना से अनुरक्ति …े कारण कभी-कभी किशोर अपने को पतन के गर्त मे गिरा देते हैं। किशोरावस्था मे …यक्ति को पर्याप्त यौन शिक्षा मिलनी चाहिये, ताकि वह अपने को पतन से बचा सके। …ाता-पिता को चाहिये कि वे किशोर को उसके वीर्यस्राव के सम्बन्ध मे और किशोरी …ो उसके मासिक स्त्रोस्राव के सम्बन्ध में ठीक-ठीक बता दें। किशोर को यह सिखाना …त्यावश्यक है कि वह अपनी कामवासना की प्रवृत्ति का दमन किये बिना किस प्रकार …ात्म-संयम कर सकता है। उसे पर्याप्त मात्रा में रुचि-पूर्ण कार्य देने चाहिये। बाह्य …ेलों की अधिकता, पर्याप्त निद्रा, स्वास्थ्यपूर्ण भोजन, कामवृत्ति का शोधन करने में …हायक हो सकते हैं। कविता और कला-जैसे आत्मिक विषयों … किशोर की रुचि …त्पन्न करना भी लाभदायक है। क्योंकि किशोर में वीरपूजा की भावना प्रबल होती …, इसलिये उसे साहसपूर्ण कहानियां, इतिहास, यात्रा आदि विषयों के सम्बन्ध में …ाहित्य देना भी हितकर है। प्रवृत्तियों के शोधन के विषय में हम चरित्र के पाठ में …विस्तार बतायेंगे।

(८) अपराधी की भावना:—

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि कामुकता की वासना के कारण किशोर में …ई दोष उत्पन्न हो जाते हैं। पर काम विषय पर बात करना या सोचना एक पाप …मझा जाता है। इसलिये किशोर अपने को पापी और अपराधी समझने लगता है। यदि …से यह न बताया जाय कि अपने से विपरीत लिंग वाले व्यक्ति के विषय में सोचना …्वाभाविक है, तो वह स्वयं अपनी दृष्टि से गिर जाता है। उसमें आत्मग्लानि की …ावना भी उत्पन्न हो सकती है। अतः उसमें इस भावना को पनपने नहीं देना चाहिये, …समें लिये उसे स्वाभाविक यौन परिवर्तनों के बारे में स्पष्ट बता देना ही उचित है।

(९) बौद्धिक विकास—

इस काल में व्यक्ति की बुद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि सोलह वर्ष की आयु के उपरान्त बुद्धि का विकास रुक जाता है। दूसरे शब्दों में १६ वर्ष की आयु तक व्यक्ति की बुद्धि उस सीमा तक पहुँच जाती है जहाँ उसे पहुँचना होता है। इस आयु के उपरान्त व्यक्ति का ज्ञान तो बढ़ सकता है, पर बुद्धि नहीं।

(१०) अन्य—

किशोरावस्था में आत्मप्रदर्शन (Self-ascertion) की भावना बड़ी प्रबल हो जाती है। व्यक्ति प्रत्येक विषय पर अपने विचार प्रकट करता है। कानून, सिद्धान्त नियम, नैतिक विधियां बनाने में अपने को बच्चों और बड़ों से श्रेष्ठ समझता है। वह सौन्दर्य में रुचि रखता है और कविता और कला आदि विषयों में दिलचस्पी लेता है। प्रत्येक किशोर स्वयं एक कवि होता है।

माता पिता को चाहिये कि बच्चे से व्यवहार करने से पहले उसकी इन विशेषताओं (Characterishica) को भली-भांति समझ लें।

बाल-विकास (शारीरिक)

[Development of the child (Physical)]

...व-काल ही मनुष्य के जीवन की नींव है। जिस प्रकार किसी भवन की दृढ़ता ...न और विशालता के लिये उसकी नींव का निर्माण वैज्ञानिक रीति से करना ...क है, ठीक उसी प्रकार किसी व्यक्ति के जीवन में पूर्ण सफलता के लिये शैशव- ... में उसका विकास उचित रीति से होना चाहिये। किसी व्यक्ति का स्वास्थ्य, ...व्यक्तित्व और चरित्र इस बात पर निर्भर करते हैं कि शैशव में उसकी देख-रेख ...प्रकार की गई। प्रस्तुत अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि शैशव में ...ु का शारीरिक विकास किस प्रकार होता है। आगामी चार अध्यायों में हम यह ...ताने का प्रयास करेंगे कि शिशु का बौद्धिक, यौनिक, चरित्र और व्यक्तित्व का ...ास किस प्रकार होता है, साथ-ही-साथ हम यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि शिशु ...विकास को उचित रीति से सम्पन्न करने का कौन-सा मार्ग है।

१. वजन तथा लम्बाई

नवजात शिशु का वजन लगभग ३ से ३॥ सेर (६ से ७ पौन्ड) होता है, और ...लम्बाई लगभग २० से २१ इंच होती है। आयु की वृद्धि के साथ-साथ वजन और कद

आयु	बालक		बालिका	
	वजन (पौंडों में)	कद (इंचों में)	वजन (पौंडों में)	कद (इंचों में)
जन्म के समय	६	२१	६	२०
१ मास	१२	२४	१२	२१
६ "	१७	२७	१७	२५
९ "	१९	२८	१८	२७
१ वर्ष	२१	३०	२२	२९
२ "	२६	३३	२५	३२
३ "	३२	३६	३०	३५
४ "	३६	३९	३४	३८
५ "	४०	४२	३८	४१
६ "	४१	४५	४१	४४
७ "	५०	४७	४८	४६
८ "	५५	४९	५३	४८
९ "	६०	५१	५८	५०
१० "	६६	५३	६४	५१
११ "	७१	५५	७१	५३
१२ "	८२	५७	८०	५६

दोनों बढ़ते जाते हैं। आरम्भ में वजन की वृद्धि की तेजी कद की वृद्धि से अधि होती है। छठे मास में शिशु का वजन दुगुना अर्थात् १६ पौण्ड के लगभग ह जाता है जबकि कद केवल पांच इंच बढ़ता है। बालिकाओं की अपेक्षा बालकों क कद तथा वजन अधिक तेजी से बढ़ते हैं। नीचे की तालिका में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि भिन्न २ आयु में व्यक्ति का वजन तथा कद कितना होता है।

पीछे दी हुई तालिका में कद तथा वजन एक मध्यम(Medium) शिशु के दि गये हैं। साधारण (Normal) शिशु का वजन १ वर्ष की आयु के उपरान्त मध्यम शिशु के वजन से ५ पौंड कम अथवा अधिक तक हो सकता है। इसी प्रकार साधारण शिशु के कद और मध्यम शिशु के कद में दो इंच का अन्तर हो सकता है।

२. इन्द्रियाँ

(क) नेत्र –

नवजात शिशु की दृष्टि विशेष विकसित नहीं होती। आरम्भ में वह पदार्थों को भली भांति देख नहीं पाता, पर धीरे-धीरे उसकी दृष्टि ठीक होने लगती है। एक या दो सप्ताह के भीतर वह तेज तथा हिलते हुए प्रकाश अथवा चमकदार वस्तुओं को देखने लगता है। दो मास का शिशु अपनी माता के स्तन के आकार-प्रकार से परिचित हो जाता है और वह उस पर अपना ध्यान भी केन्द्रित कर सकता है। सामान्यतः वह अन्य वस्तुओं पर ध्यान नहीं जमा पाता। इसी आयु में वह रोने पर वास्तविक आंसू भी बहा सकता है।

इस आयु में कभी-कभी प्रातः सोकर उठने पर शिशु के नेत्रों पर सफेद माड़ा-सा लगा होता है। ऐसी दशा में उनके नेत्र खानेवाले सोडे के १० प्रतिशत घोल से धो देने चाहिये। नेत्र धोते समय यह ध्यान रखना परमावश्यक है कि वह माड़ा नेत्रों में न पड़े।

छठे मास में शिशु के नेत्र अपने प्राकृतिक रंग में आ जाते हैं। इस आयु का शिशु अपने माता-पिता तथा रोज मिलनेवाले अन्य व्यक्तियों को पहचानने लगता है। एक वर्ष का शिशु भिन्न रंगों का अन्तर जान जाता है। दो वर्ष की आयु तक पहुंचते-पहुंचते उसके नेत्र पूर्णतया परिपक्व हो जाते हैं।

(ख) नासिका—

नवजात शिशु में घ्राण शक्ति अनुपस्थित रहती है। ३ मास का शिशु तेज गन्ध को अनुभव कर सकता है। ५ मास का शिशु गन्ध को पहचानने भी लगता है, पर दो वर्ष की आयु तक वह सुगन्ध और दुर्गन्ध का भेद नहीं समझ पाता। दो वर्ष की आयु तक शिशु की नासिका भी पूरी तरह विकसित हो जाती है।

जहां तक नाक के द्वारा श्वास लेने का प्रश्न है, [illegible] मास का शिशु मुख बन्द करके नाक के द्वारा श्वास लेने लगता है। यदि ऐसा न हो, तो उसे किसी योग्य डॉक्टर को दिखाना आवश्यक है।

(ग) जिह्वा—

जन्म के कुछ समय पश्चात् शिशु की स्वाद ग्रंथियाँ (Taste buds) काफी विकसित हो जाती हैं। ६ से ९ मास की आयु तक तो वह भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजनों के स्वाद को पहचानने लगता है। यदि उसके भोजन में कोई नया पदार्थ मिला दिया जाय, तो तत्काल ही उसकी जिह्वा इस बात को जान जाती है। अतः १ वर्ष के शिशु की स्वाद-ग्रंथियाँ पूर्णतया परिपक्व होती हैं।

(घ) कान—

अपने जीवन के पहले एक-दो दिन व्यक्ति पूर्णतया बधिर (बहरा) होता है। धीरे-धीरे वह तेज़ आवाज को सुनने लगता है, और कुछ समय पश्चात् वह धीमी आवाज़ को भी सुनने के योग्य हो जाता है। ३ मास का शिशु अपनी माता की आवाज भी पहचानने लगता है। १ वर्ष के शिशु की श्रवण-शक्ति भली-भाँति विकसित हो जाती है। वह अपने निकटवर्ती सभी लोगों की आवाज पहचानने में समर्थ हो जाता है।

(ङ) त्वचा—

जन्म से ही शिशु में स्पर्श को अनुभव करने की शक्ति विद्यमान होती है। उसके शरीर के अंगों में होंठ तथा जिह्वा में स्पर्श को अनुभव करने की शक्ति अधिकतम होती है। आयु की वृद्धि के साथ-साथ स्पर्श को समझने की शक्ति का स्थानीयकरण (Localisation) होता जाता है। आरम्भ में यदि शिशु के पाँव पर चकोटी काटी जाय, तो वह पूरे शरीर को हिला-हिलाकर चिल्लाता है, पर यदि यही प्रयोग ६ मास के शिशु पर किया जाय, वह केवल उसी टाँग को हिलाकर चिल्लाएगा, जिसमें उसे पीड़ा हुई है। इस आयु में यदि रुई से शिशु के किसी भी अंग को छुआ जाय, तो वह समझ जाता है कि उसे छुआ जा रहा है।

३. दाँत

गर्भ के पाँचवें मास के लगभग गर्भ-स्थित शिशु के दाँत मसूड़ों के नीचे जमने लगते हैं, और छठे मास के अन्त तक दोनों जबड़ों के दाँत बन जाते हैं।

दूध के दाँत कुल २० होते हैं। यदि दोनों जबड़ों के ४ भाग मान लिये जायँ, तो दाहिने, बायें, ऊपर तथा नीचेवाले प्रत्येक भाग में पाँच दाँत होते हैं। इन पाँच दाँतों का क्रम अन्दर से बाहर की ओर इस प्रकार होता है—

काटने वाले दाँत (Incisors) दो
चीरनेवाला दाँत (Canine) एक
कुचलनेवाले दाँत (Molars) दो

भिन्न-भिन्न शिशु अपनी आयु के भिन्न-भिन्न समयों पर दाँत निकालते हैं। कुछ शिशुओं का पहला दाँत ३ मास की आयु में ही निकल आता है, जबकि कुछ ऐसे भी हैं, जो एक वर्ष की आयु में जाकर पहला दाँत निकालते हैं। पर अधिकांश शिशुओं का पहला दाँत ६ मास की आयु के निकट निकल आता है। यदि शिशु बहुत शीघ्र दाँत निकाले, तो इसका आशय यह नहीं कि उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। स्वास्थ्य की दृष्टि से वह सामान्य हो सकता है। इसके विपरीत देर से दाँत निकालनेवाले शिशुओं में कैलसियम (Calcium) की कमी होती है। यह देखा गया है कि जिन माताओं ने गर्भावस्था में कैलसियम का पर्याप्त सेवन किया है, उनके शिशुओं के दाँत समय पर और सुगमता से निकलते हैं।

यद्यपि सबसे पहले नीचे के काटनेवाले दाँत निकलते हैं, फिर भी इनके निकलने से काफी दिन पहले ऊपर के काटनेवाले दाँतों के स्थान पर सूजन हो जाती है। दूध के यह २० दाँत साधारणतया निम्नलिखित क्रम से निकलते हैं—
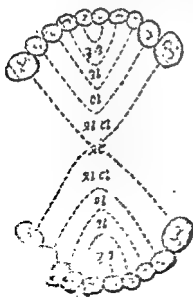
दाँत	निकलने की आयु
नीचे के अन्दर के काटनेवाले दो दाँत	६-९ मास
ऊपर ,, ,, दो	,, ८-१२ ,,
,, ,, दो	,, ८-१२ ,,
नीचे के ,, ,, दो	,, १२-१६ ,,
अन्दर के कुचलनेवाले चार	,, १२-१६ ,,
चीरनेवाले चार	,, १६-२२ ,,
बाहर के कुचलनेवाले चार	,, २०-३० ,,

इस प्रकार भिन्न आयु में शिशु के दाँतों की संख्या निम्नलिखित है।

आयु	दाँतों की संख्या
७ मास	४
१ वर्ष	६
१८ मास	१२
२ वर्ष	१६
२½ ,,	२०

दाँतों के विषय में विशेष याद रखने की बात यह है कि दोनों ओर (दायें तथा बायें) के दाँत एक साथ निकलते हैं। इस प्रकार यदि दाईं ओर का कोई दाँत निकल रहा हो, तो एक-दो दिन के भीतर ही बाईं ओर के उसी प्रकार के दाँत के निकलने की सम्भावना होती है। इसी प्रकार विपरीत दशा में भी ऐसा ही होता है।

दूध के ये दाँत ५ या ६ वर्ष की आयु तक रहते हैं। फिर धीरे-धीरे उनका स्थान स्थायी दाँत ले लेते हैं।

४. शारीरिक कार्य

जन्म से ही शिशु हाथ-पाँव हिला सकता है और २ मास की आयु में वह अपना सिर भी हिलाने लगता है। ६ मास की आयु में वह छोटी छोटी वस्तुओं को पकड़ने के योग्य भी हो जाता है।

(क) बैठना—

सामान्यतः ७ से ९ मास की आयु तक शिशु बैठना सीख जाता है।

(ख) रेंगना—

बैठना सीखने के २ मास के भीतर अर्थात् ९ से ११ मास की आयु तक शिशु हाथों और पाँवों के बल पर रेंगने लगता है। शिशु जब रेंगने लगे, तो पृथ्वी पर कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं रखना चाहिए, जो उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो। वह जो वस्तु पायगा, उसे अपने मुख में डाल लेगा। इसी प्रकार जमीन से कंकड़, पत्थर इत्यादि हटा देने चाहिये, ताकि रेंगते समय वह अपने शरीर को जख्मी न कर ले।

(ग) खड़ा होना—

लगभग एक वर्ष की आयु में शिशु खड़ा होना सीख जाता है। आरम्भ में वह भली भाँति खड़ा नहीं हो पाता और खड़ा होने पर गिर-गिर जाता है। अक्सर खड़ा होने पर वह बैठने का ढंग ही भूल जाता है और तब तक खड़ा रहता है, जब थक कर गिर न जाय या जब तक कोई बैठने में उसकी सहायता न करे। यह दशा थोड़े ही दिन रहती है।

कुछ शिशु काफी दिनों तक खड़ा होना नहीं सीख पाते। साधारणतः उनमें कैल्शियम विटामिन डी की कमी होती है। ऐसे शिशुओं को टांगों पर मजबूती के तेल की मालिश करना भी लाभदायक होता है।

(घ) चलना—

साधारण शिशु लगभग १२ से १४ मास की आयु में चलने लगता है। आरम्भ में वह अपने शरीर का सन्तुलन (Balance) ठीक नहीं रख पाता और चलते समय वह बार-बार गिर पड़ता है। शारीरिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए वह

लम्बे-लम्बे डग भरता या दौड़ने लगता है। एक-दो सप्ताह में उसकी चाल ठीक हो जाती है।

यह याद रखना आवश्यक है कि कोई भी मा शिशु को चलना नहीं सिखा सकती। उसकी मांसपेशियाँ जब चलने-फिरने योग्य हो जाती हैं। उसका स्नायु-संस्थान जब शरीर का सन्तुलन बनाने के समर्थ हो जाता है और जब उसके हृदय में चलने-फिरने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है, तो वह चलने को उद्यत हो जाता है। हाँ चलना सीखने मे उसकी सहायता अवश्य की जा सकती है। उसे सहायता देने के लिए लकड़ी के बने रेढ़े का उपयोग किया जा सकता है।

(ङ) मल-मूत्र निकालना—

एक से डेढ़ वर्ष की आयु तक सामान्य शिशु को यह ज्ञान हो जाता है कि शरीर में किस प्रकार के अनुभव होने के उपरान्त टट्टी अथवा मूत्र आता है। कुछ सीमा तक वह उन पर वश करना भी सीख जाता है। वह यह भी सीख जाता है कि किस स्थान पर टट्टी या पेशाब करना चाहिए और किस स्थान पर नहीं। इस सम्बन्ध में हम शिशु-पालन के अध्याय में सविस्तार बताने का प्रयत्न करेंगे।

(च) बोलना —

एक वर्ष की आयु के निकट शिशु कुछ आवाजें निकालने लगता है। शिशु का बोलना सीखेगा, यह बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व और माता-पिता के व्यवहार पर निर्भर करता है। जिन बालकों की माता किसी कारण अधिक चुप रहती है, वे इतन शीघ्र बोलना नहीं सीख पाते। कई बार ऐसा भी होता है कि माता शिशु से बात करते समय लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग करती है, जिससे उसे बोलना सीखने में कठिनाई होती है। जो बच्चे किसी कारण-वश यह सोचने लगते हैं कि उन्हें अपने माता पिता से उचित प्रेम नहीं मिल रहा है, वे निराशा-वादी हो जाते हैं और बोलना पसन्द नहीं करते।

लगभग सभी शिशु आरम्भ में शब्दों का उच्चारण करते हैं और धीरे-धीरे ठीक बोलने लगते हैं। डाक्टर गेसेल (Dr. Gesell) के अनुसार एक वर्ष का शिशु एक-दो शब्द बोल सकता है और आयु की वृद्धि के साथ उसका शब्द-ज्ञान भी बढ़ता जाता है। नीचे की तालिका में यह दर्शाया गया है कि विभिन्न आयु के शिशुओं को कितने शब्दों का ज्ञान होता है।

आयु	शब्द
१ वर्ष	१-२
१½ "	४-५
२ "	२००-२५०
२½ "	४५०-५००
३ "	६००-९००

र्ष का शिशु बोलकर बताये गये छोटे-छोटे आदेशों को समझ सकता है।
" कहने पर वह चम्मच दे देता है, यदि उसके हाथ मे हो तो। इस आयु का
सरल शब्दों का उपयोग कर सकता है। भारतीय शिशुओं के ■ शब्द
"बुआ", "मामा", "चाचा" आदि होते हैं।

वर्ष की आयु के निकट शिशु छोटे-छोटे वाक्य भी बोल सकता है जैसे–
दो", "मुन्ना भूखा", "पापा आजा" इत्यादि।

अढ़ाई वर्ष के शिशु सुचारु रूप से वार्तालाप कर सकते हैं। कुछ शर्मीले बच्चों
ह, जो कि अपनी बात को कम-से-कम शब्दों मे व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं,
■ सभी बच्चे इस आयु मे बहुत बातें करने लगते हैं। माता-पिता का यह कर्तव्य
है उसकी बातों से उकतायें नहीं, अपितु उन्हें रुचि-पूर्वक सुनने का प्रयास करें,
क उन्हें बोलने का प्रोत्साहन मिले।

५. निद्रा

शारीरिक तथा मानसिक विश्राम के लिए निद्रा की नितांत आवश्यकता है।
सामान्यतः प्रकृति का यह नियम है कि एक स्वस्थ व्यक्ति उतनी देर सोता है, जितनी
देर सोना उसके स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हो। नवजात शिशु का अधिकतम समय
सोने ■ व्यतीत हो जाता है, क्योंकि उसके स्वास्थ्य के लिए अधिक सोना ही उचित
है। आयु की वृद्धि के साथ-साथ निद्रा की आवश्यकता कम होती चली जाती है।
नीचे हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि विभिन्न आयु के मध्यम शिशु को कितनी-
कितनी देर सोना चाहिये। दूसरे शब्दों में विभिन्न आयु के स्वस्थ तथा मध्यम शिशु
कितनी देर सोते हैं, इसकी एक तालिका नीचे दी जा रही है। वैसे एक सामान्य शिशु
की निद्रा के घण्टे इनसे एक घण्टा अधिक अथवा एक घण्टा कम तक हो सकते हैं।

आयु	निद्रा के घण्टे
नवजात शिशु	२२
३ मास	२१
६ ,,	२०
९ ,,	१८
१ वर्ष	१६
१½ ,,	१५
२ ,,	१३
३ ,,	१२

जैसा कि ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि आरम्भ में शिशु का लगभग पूरा समय सोने में ही व्यतीत होता है। वह थोड़ी देर के लिये दूध पीने के लिए जगता है और दूध पीते ही फिर सो जाता है। प्रत्येक शिशु को रात के ६-७ बजे से प्रातः ६-७ बजे तक अवश्य सोना चाहिए। सभी शिशुओं को दिन में भी सोने की आवश्यकता होती है। माता को चाहिये कि वह दिन में दो बार उसे अवश्य सुलाये प्रातः को अधिक समय के लिये और शाम को थोड़े समय के लिये।

सोने के लिए शिशु को दो आदतें विशेष रूप से डालनी चाहिये, अकेले और अन्धेरे में सोने की। अकेले सोने से उसे शुद्ध और ताजी वायु तो मिलती ही है, उसके चरित्र में स्वतंत्रता नामक गुण का भी विकास होता है। अंधेरे में सोने से नींद सुचारु रूप से आती ही है, शिशु का अन्धकार का भय भी दूर हो जाता है।

शिशु के सोने का कमरा खुला और हवादार होना चाहिये और खिड़कियां तथा रोशनदान खुले रहने चाहिये। सोने के लिये ऐसा कमरा सर्वोत्तम माना गया है, जिसका तापमान ६०°/ फारनहाईट के लगभग हो।

कुछ शिशु ऐसे भी हैं, जो बहुत कम सोते हैं। ऐसी दशा में माता को परेशान नहीं होना चाहिये, अपितु उसके सो न सकने का कारण खोजना चाहिए। शिशु के सो न सकने का कारण सामान्यतः निम्नलिखित कारणों में से कोई एक होता है।

(१) ताजी हवा में शिशु बड़ी सुगमता से सो सकता है। यदि सोने के कमरे की खिड़कियां, रोशनदान आदि बन्द हों, तो उसे सोने में बहुत असुविधा होती है।

(२) भूख अथवा प्यास के कारण शिशु चिल्लाना आरम्भ कर देता है और वह सो नहीं पाता।

(३) थकावट के कारण निद्रा उससे दूर भागती है।

(४) बिस्तर यदि कष्टदायक हो अथवा गीला हो या खाट में खटमल हों, तो शिशु को सोने में कठिनाई होती है।

(५) मक्खी अथवा मच्छरवाले कमरे में शिशु का सो न सकना स्वाभाविक है।

(६) शोर अथवा तेज रोशनी उसके सोने में बाधक होती है।

(७) पचरी (Tonsils) के बढ़ जाने अथवा जुकाम के कारण शिशु को सांस लेने में कष्ट होता है और वह सो नहीं पाता।

(८) भय के कारण भी शिशु के लिए सोना दुष्कर होता है।

कुछ वर्ष पहले कुछ भारतीय मातायें शिशु को सुलाने के लिये उसे अफीम (opium) दे देती थी। यह बहुत ही बुरी प्रथा थी और इसकी जितनी निन्दा की जाय, उतनी ही कम है। अफीम से शिशु को कब्जतो होती ही है, उसकी बुद्धि का हनन भी होता है और उसे अफीम की आदत भी पड़ जाती है। आजकल बहुत-सी मातायें शिशु को सुलाने के लिये चुसनी दे देती हैं। दन्तचिकित्सकों (Dentists) का मत है कि इससे शिशु के दाँतों को काफी हानि पहुँचती है। चुसनी चूसने से शिशु के आमाशय में काफी वायु पहुँच जाती है, जिससे उसे पाचन के कई रोग हो सकते हैं। बहुत से अमेरिकन डॉक्टरों का मत है कि सुलाने के लिये शिशु को थपथपाना भी नहीं चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से वह आत्मनियन्त्रण (Self-control) खो बैठता है। अतः जो शिशु भलीभाँति सो नहीं पाते, उनकी माताओं का यह कर्तव्य है कि वे इसका कारण खोजें और उस कारण को दूर कर देना ही शिशु को सुलाने की वैज्ञानिक रीति है।

६. खेल और व्यायाम

सामान्यतः यदि स्वस्थ शिशु को पर्याप्त स्थान मिले, तो वह स्वयं काफी व्यायाम कर लेता है। माता-पिता को चाहिये कि वे उसे खुली हवा में खेलने का अवसर देते रहें।

शिशु जन्म से ही हाथ-पाँव मारने लगता है। उसके खिलौने पालिश किये हुए नहीं होने चाहिये, क्योंकि अक्सर इस आयु में वह इन्हें दाँतों से काटने का प्रयास करता है। इस समय उसे साधारण से खिलौने की आवश्यकता होती है।

डेढ़ वर्ष का शिशु ऐसे खिलौनों को पसन्द करता है, जिनमें इस प्रकार की व्यवस्था हो। एक वस्तु दूसरी वस्तु में डाली जा सके, खींची जा सके या दबाई जा सके।

दो वर्ष के शिशु में नकल करने की प्रवृत्ति उग्र रूप में होती है। इसलिये वह खेल-खेल में अपने माता-पिता के कार्यों की नकल उतारता है, जैसे झाड़ू लगाना, बर्तन धोना, दाढ़ी बनाना इत्यादि। दो वर्ष के शिशु के खिलौने ऐसे होने चाहिये, जिनमें खेल के साथ-साथ कुछ शिक्षा भी प्राप्त हो। आजकल लकड़ी तथा प्लास्टिक के बने ऐसे खिलौने मिलते हैं, जो क्रीड़ा के साथ-साथ ज्ञान की वृद्धि भी करते हैं। इस आयु में शिशु अकेले खेलना पसन्द करता है। वह अब उछलने-कूदने भी लगता है। माता-पिता को चाहिये कि वह उसे खेलने में स्वतन्त्रता दें। हाँ, भोजन के आधा घण्टा पहले और दो घण्टे बाद तक उसे खेलने नहीं देना चाहिये।

आयु की वृद्धि के साथ-साथ शिशु में सामाजिकता आ जाती है। तीन वर्ष के बच्चे को दूसरों के साथ खेलने में आनन्द आता है। मिलकर खेलने से उनमें कई सामाजिक गुणों का आविर्भाव होता है। वे सहयोग, सहानुभूति और दूसरे के अधिकारों तथा सम्पत्ति (खिलौने आदि) का सम्मान करना सीख जाते हैं। वे आपस में विचारों का आदान-प्रदान भी करते हैं। इस आयु में शिशु घर से बाहर खेलना पसन्द करते हैं। शिशु के खेलने का सर्वोत्तम स्थान वह है, जहाँ छोटी-छोटी घास हो और जहाँ ताजा और शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा में मिले। इसीलिये बड़े-बड़े नगरों में पार्कों का प्रबन्ध किया जाता है। वर्षा-ऋतु में घास पर खेलने से फिसलने का भय होता है, अतः इस दशा में उसे घर में ही खेलने देना चाहिये, पर ताजी और शुद्ध वायु के लिये उसे बंद कराना आवश्यक हो जाता है।

बाल-विकास (बौद्धिक)

[Development of the Child (Intellectual)]

व्यक्ति में जन्मजात बुद्धि कितनी मात्रा में होती है, इस प्रश्न पर विद्वानों मे मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार जन्म के समय बौद्धिक दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति समान होता है। जिस प्रकार के वातावरण (Environment) में उसका लालन-पालन होता है, उसी के अनुसार उसकी बुद्धि का विकास होता है। रूढ़िवादी और अशिक्षित परिवारों में पले हुए व्यक्ति सामान्यतः मन्द बुद्धि होते हैं, और शिक्षित तथा सभ्य परिवारों में पले हुए कुशाग्र बुद्धि।

इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि बुद्धि तो जन्मजात गुण है। व्यक्ति को उसकी बुद्धि उत्तराधिकार (Heredity) में मिलती है। उसकी बुद्धि पर उसके पूर्वजों के बौद्धिक विकास का प्रभाव पड़ता है। इस मत के प्रवर्तक यह कहते हैं कि बुद्धि यदि वातावरण का फल होती, तो रूढ़िवादी और पिछड़े हुये परिवारों में से कभी-कभी योग्य व्यक्ति क्यों निकल आते हैं ?

सत्य इन दोनों विचारों के मध्य में है। व्यक्ति के मानसिक विकास पर वातावरण और उत्तराधिकार दोनों का प्रभाव पड़ता है। अच्छी से अच्छी भूमि पर यदि त्रुटि-पूर्ण बीज बो दिया जाय, तो फसल अच्छी नहीं हो सकती और न कम उपजाऊ भूमि पर अच्छे से अच्छा बीज डालकर वांछित फल प्राप्त होता है। अच्छी फसल प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि भूमि और बीज दोनों अच्छे हों। फिर भी अच्छे बीज को बुरी भूमि में विकसित होने की और बुरे बीज को अच्छी भूमि में नष्ट होने की सम्भावना रहती है। फसल पर भूमि तथा बीज दोनों का ही प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार व्यक्ति की बुद्धि उत्तराधिकार तथा वातावरण दोनों पर निर्भर होती है। योग्य बालक भी बुरे वातावरण में पलकर खराब हो सकता है और मन्द बुद्धि बालक की अच्छे वातावरण में पलकर उन्नति करने की भी सम्भावना रहती है।

बौद्धिक विकास के सम्बन्ध में एक तीसरे प्रकार का भी मत है, जो ऊपर बताये गये मतों से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। शरीर विज्ञान (Anatomy) के विद्वानों का मत है कि व्यक्ति की बुद्धि उसके शरीर की कुछ ग्रंथियों (Glands) पर निर्भर करती है। यदि ये ग्रंथियाँ पर्याप्त रस नहीं देती, तो व्यक्ति मन्द बुद्धि रह जाता है। चुल्लिका (Thyroid) ग्रंथि के रस के अभाव से निरा बुद्धू (Idiot) हो जाता है। उसका कद छोटा रह जाता है और शक्ल मंगोलों की भाँति हो जाती है। ऐसे

शिशुओं को आरम्भ से ही चुल्लिका का रस देने से उनके ये दोष दूर किये जा सकते हैं। इसी प्रकार पिट्यूट्री (Pitutry) ग्रंथि के रसाभाव से व्यक्ति मूर्ख और मन्द बुद्धि हो जाता है। शरीर-विज्ञान के विद्वानों का यह मत भी पूर्णतः सत्य है। पर क्या हमारी ग्रंथियाँ हमें शरीर के साथ-साथ उत्तराधिकार में नहीं मिलती ? अतः हम इस निर्णय (conclusion) पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति की बुद्धि उत्तराधिकार (जिसमें ग्रंथियाँ भी सम्मिलित हैं) और वातावरण दोनों पर निर्भर रहती है।

अब हम यह कल्पना करके कि सामान्य शिशु का उत्तराधिकार और वातावरण दोनों ही सामान्य हैं, यह देखने का प्रयास करेंगे कि उसकी बुद्धि के भिन्न-भिन्न तत्त्व किस प्रकार विकसित होते हैं।

१. सीखना (Learning)

अनुभवों तथा दीक्षा (Training) के द्वारा मनुष्य के व्यवहार (Behaviour) में परिवर्तन होते हैं। चरित्र में इस प्रकार परिवर्तन लाने का नाम "सीखना" है। शिशु क्या सीखता है, यह उसके वातावरण, चरित्र तथा अनुभवों पर निर्भर करता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो सीखना ही बौद्धिक विकास का आधार है; क्योंकि इससे मनुष्य का चरित्र उन्नत होता और बुद्धि निर्मल होती है। जेमेल के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन के पहले छः वर्षों में बाद के १२ वर्षों से भी दुगना सीखता है। इससे यह स्पष्ट है कि सीखने तथा बौद्धिक विकास की दृष्टि से मनुष्य के जीवन के पहले [illegible] वर्ष बहुत महत्त्व-पूर्ण हैं। इसी आयु में शिशु विद्वान् अथवा मूर्ख जो भी उसे बनना होता है, बन जाता है। अतः यह जानना अत्यावश्यक है कि व्यक्ति किस प्रकार सीखता है। सीखने की विधियों में से कुछ महत्त्व-पूर्ण विधियों [illegible] उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

(क) प्रयास और त्रुटि की विधि (Trial and Error Method)—

आरम्भ में शिशु प्रयास और त्रुटि की विधि के द्वारा सीखता है। वह प्रत्येक कार्य को स्वयं करने की चेष्टा करता है। धीरे-धीरे वह त्रुटि-पूर्ण प्रतिक्रियाओं को छोड़ देता और ठीक प्रतिक्रियाओं को अपना लेता है। दूसरे शब्दों में वह अपनी त्रुटियों से पाठ सीखने का प्रयास करता है।

(ख) सुख और दुख की धारणा (Pleasure and pain)—

प्रश्न यह उठता है कि शिशु त्रुटि-पूर्ण प्रतिक्रियाओं को ही क्यों नहीं अपना लेता। [illegible] क्या कारण है कि वह एक बार त्रुटि करके [illegible] उसके करने का प्रयास करता है। [illegible] कारण स्पष्ट है कि किस कार्य के करने में [illegible] करने को तैयार हो जाता है और [illegible]

त्याग देता है। त्रुटि-पूर्ण प्रतिक्रिया का परिणाम होता है विफलता, जो उत्पन्न करती है दुःख, तो शिशु क्यों उससे बचने की चेष्टा न करेगा। इसके विपरीत ठीक प्रतिक्रिया से मिलती है सफलता, जिससे मिलता है सुख। आग में हाथ डालने से भय खाना सीख जाता है।

(ग) अनुकरण (Imitation)—

दो वर्ष का शिशु बड़ों का अनुकरण करके भी सीखता है। वह अपने बड़ों के कार्यों की नकल करने लगता है। बड़े जिस कार्य को जिस रीति से करते हैं वह भी उसी रीति को अपनाता है। माता पिता यदि स्वच्छता से रहते हैं, तो वह अपने आप ही गन्दगी से घृणा करने लगता है।

(घ) निर्देश (Suggestion)—

शिशु दूसरों के द्वारा बतायी गयी बातों से भी सीखता है। माता-पिता के मुख से निकली हुई बातें उसके लिये वेदवाक्य होती हैं। वह उन बातों को बड़े ध्यान से सुनता है, और उन्हीं के अनुसार अपने को बनाने का प्रयास करता है। ३ वर्ष का शिशु दूसरों से प्रश्न करता है और इस प्रकार से सीखने का प्रयत्न भी करता है। मनोवैज्ञानिकों (Psychologists) ने ३ से ५ वर्ष की आयु को प्रश्नायु (Question Age) का नाम दिया है। माता-पिता का कर्तव्य है कि वे उसके प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दें। इधर-उधर की बातों में प्रश्न को टाल देने अथवा सिर खाने के अपराध में शिशु को झिड़क देने से उसकी बुद्धि तथा चरित्र पर दूषित प्रभाव पड़ता है।

(ङ) अन्तर्दर्शन (Intution)—

पाँच-छः वर्ष की आयु तक शिशु की बुद्धि काफी विकसित हो जाती है और वह अपने मस्तिष्क से काम लेने लगता है। किसी समस्या का हल वह अन्दर खोजने का प्रयत्न करता है। कौन-सा कार्य उचित और कौन-सा अनुचित, किस कार्य के करने में सुख मिलेगा और किस के करने से दुख, और किस कार्य को किस विधि से करने से सफलता की आशा होती है, यह उसे सिखाने के लिये उसका मस्तिष्क परिपक्व हो जाता है।

२. स्मरण-शक्ति (Memory)

आरम्भ में शिशु पर केवल उन्हीं उत्तेजनाओं (Stimuli) का प्रभाव पड़ता है, जो शरीर पर होती हैं। बाह्य जगत का ज्ञान उसे नहीं होता। उत्तेजनायें हमारे शरीर के भीतर अथवा बाहर होनेवाले वे कारण हैं, जिनसे हमारे शरीर में कोई क्रिया उत्पन्न होती है। साँप को देखकर हम लाठी लेकर उसे मारने को उद्यत हो

(Mental Age) का पता लगाया जाता है। विभिन्न आयु के शिशुओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रश्न और कार्य दिये गये हैं। शिशु जिस आयु के लिये निर्धारित कार्यों को सुगमता से कर सके, वही आयु उसकी मानसिक आयु मानी जाती है, भले ही शारीरिक दृष्टि से उसकी आयु इससे कम हो अथवा अधिक। शारीरिक दृष्टि से ३ वर्ष का मन्द बुद्धि बच्चा यदि केवल २ वर्ष के प्रश्नों का उत्तर दे सके, तो मानसिक दृष्टि से वह दो ही वर्ष का है। इसी प्रकार हो सकता है कि ३ वर्ष का एक कुशाग्र बुद्धि बालक ४ वर्ष के कार्यों को कर सके। उस दशा में उसकी मानसिक आयु ४ वर्ष मानी जायगी।

(ख) बुद्धि लब्धि (Intelligence Quotient)—

मानसिक आयु के आधार पर बुद्धि लब्धि (I.Q.) निकाली जाती है। मानसिक आयु को शारीरिक आयु (Chronical Age) से भाग देने से जो फल निकलता है, उसे बुद्धि लब्धि कहते हैं।

$$\text{बुद्धि लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{शारीरिक आयु}}$$

$$\left[\text{I. Q.} = \frac{\text{M. A.}}{\text{C. A.}} \right]$$

इस प्रकार ऊपर वर्णित मन्दबुद्धि बालक की बुद्धि लब्धि है $\frac{२}{३}$, क्योंकि शारीरिक दृष्टि से ३ वर्ष का होते हुये भी मानसिक दृष्टि से दो वर्ष का है। दूसरे शब्दों में उसमें बौद्धिक विकास एक सामान्य शिशु . बौद्धिक विकास का $\frac{२}{३}$ है। इसी प्रकार ऊपर वर्णित कुशाग्र बुद्धि बालक की बुद्धि लब्धि ४ है, क्योंकि शारीरिक रूप से यह ३ वर्ष का होते हुये भी मानसिक दृष्टि में ४ वर्ष का है। दूसरे शब्दों में उसका बौद्धिक विकास सामान्य शिशु के बौद्धिक विकास का $\frac{४}{३}$ है। यह याद रहे कि सामान्य शिशु की शारीरिक और मानसिक आयु समान होती है। दूसरे शब्दों में सामान्य शिशु की बुद्धि लब्धि इकाई के बराबर होती है।

इस प्रकार की लब्धि से हम एक विशेष शिशु के बौद्धिक विकास का ज्ञान तो प्राप्त कर सकते हैं, पर विभिन्न शिशुओं के बौद्धिक विकास की तुलना करने में यह लब्धि विशेष लाभदायक सिद्ध नहीं होती। इसीलिए आधुनिक मनोवैज्ञानिक बुद्धि लब्धि को प्रतिशत में नापते हैं। इस प्रकार की लब्धि प्राप्त करने के लिये ऊपर प्राप्त की गई लब्धि को सौ से गुणा कर दिया जाता है।

$$\text{लब्धि बुद्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{शारीरिक आयु}} \times १००$$

इस प्रकार एक सामान्य शिशु की लब्धि बुद्धि $१ \times १०० = १००$ होती है। ऊपर बताये गये मन्द बुद्धि और कुशाग्र बुद्धि बालक की बुद्धि लब्धि क्रमशः $\frac{२}{३} \times १००$

(९) कुछ व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर दे सकना। "तुम्हें मूत्र लगी हो, तो क्या करोगे ?" इत्यादि।

पांच वर्ष:—

(१) एक प्रकार के वजनों में से बताना कि कौन भारी है।
(२) लाल, हरा, नीला रंग बता सकना।
(३) तीन-चार चित्रों में से कौन-सा सुन्दर है, यह बता सकना।
(४) एक बार बताई गई तीन आज्ञाओं का पालन।
(५) रोटी क्या है ? कुर्सी क्या है ? इस प्रकार रोज देखी जानेवाली वस्तुओं की परिभाषा बतलाना।
(६) आदमी का चित्र पूर्ण कर सकना।
(७) कागज को तिकोना तह कर सकना।
(८) "धैर्य का खेल" खेल सकना (एक ऐसे आयत (Rectangular) की नकल कर सकना, जो दो त्रिभुजों (Triangles) से दिखाया गया हो)

छः वर्ष:—

(१) दाएँ और बाएँ की पहचान कर सकना (अपना दायाँ कान दिखाओ, बायाँ हाथ दिखाओ)
(२) चित्र की त्रुटियों को बता सकना। बिना नाक के चेहरे अथवा बिना हाथ के मनुष्य के चित्र को देखकर बता सकना कि क्या नहीं है।
(३) १३ सिक्कों की गिनती।
(४) पहले से कुछ कठिन व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर (यदि वर्षा हो रही हो और तुम्हें विद्यालय जाना हो, तो तुम क्या करोगे)।
(५) नकल के रूप से १६ से १८ खंडों के वाक्य दुहराना।
(६) प्रचलित सिक्कों का नाम बताना।
(७) चित्रों की समानता तथा अन्तर बता सकना।
(८) स्मृति से माला का चित्र बना सकना।

सात वर्ष:—

(१) चित्र देखकर यह बता सकना कि वह किसके विषय में है।
(२) जो कुछ कहा जाय, उसे दुहरा सकना।
(३) एक हाथ तथा दोनों हाथों की अंगुलियाँ बता सकना (कितनी है)
(४) गांठ देखकर वैसी गांठ लगा लेना।
(५) मक्खी और तितली का भेद बताना।
(६) सरल चित्रों को देखकर वैसा बना सकना।
(७) पांच अंकों को दुहराना।
(८) कुछ सरल शब्दों का विलोम शब्द बताना, जैसे सच का उलटा क्या है ?

आठ वर्षः—

(१) छोटी-छोटी कहानियाँ सुनकर फिर उन्हें बता सकना।
(२) बोले गये वाक्यों की त्रुटियाँ बता सकना।
(३) जानकारी की वस्तुओं की समानता तथा अन्तर बता सकना।
(४) छोटे-छोटे वाक्यों को याद रख सकना।
(५) व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर। गाड़ी छूट गई, तो क्या करोगे ?

(घ) बुद्धि के विषय में निर्णयः—

ऊपर बताये गये प्रश्नों के आधार पर बालक की बुद्धि लब्धि निकाल कर देखा जा सकता है कि उसका बौद्धिक स्तर कितना है। सामान्य बुद्धि के शिशु की लब्धि १०० के निकट होगी, कम योग्य शिशु की १०० से कम और योग्य शिशु की १०० से अधिक। बुद्धि लब्धि के आधार पर शिशुओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—

बुद्धि लब्धि	बुद्धि का प्रकार	
० — २५	जड़	Idiot
२५ — ५०	मूढ़	Imbecile
५० — ७०	मूर्ख	Moron
७० — ९०	मन्दबुद्धि	Dull
९० — ११०	सामान्य	Average or Normal
११० — १२०	योग्य	Superior
१२० — १४०	प्रखर	Very Superior
१४० से ऊपर	प्रतिभाशाली	Genius

(६) कुछ व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर दे सकना।
करोगे ?" इत्यादि।

पांच वर्षः—

(१) एक प्रकार के बक्सों में से बताना कि कौन भ
(२) लाल, हरा, नीला रंग बता सकना।
(३) तीन-चार चित्रों में से कौन-सा सुन्दर है, यह
(४) एक बार बताई गई तीन आज्ञाओं का पालन
(५) रोटी क्या है ? कुर्सी क्या है ? इस प्रकार
को परिभाषा बतलाना।
(६) आदमी का चित्र पूर्ण कर सकना।
(७) कागज को तिकोना तह कर सकना।
(८) "धैर्य का खेल" खेल सकना (एक ऐसे आय
नकल कर सकना, जो दो त्रिभुजों (Triang

छ वर्षः—

(१) दाएँ और बाएँ की पहचान कर सकना (अपना
हाथ दिखाओ)
(२) चित्र की त्रुटियों को बता सकना। बिना नाक
के मनुष्य के चित्र को देखकर बता सकना कि
(३) १३ सिक्कों की गिनती।
(४) पहले से कुछ कठिन व्यावहारिक प्रश्नों का उ
और तुम्हें विद्यालय जाना हो, तो तुम क्या क
(५) नकल के रूप में १६ से १८ मात्राओं के वाक्य दुह
(६) प्रचलित सिक्कों का नाम बताना।
(७) चित्रों की समानता तथा अन्तर बता सकना।
(८) स्मृति से माला का चित्र बना सकना।

सात वर्षः—

(१) चित्र देखकर यह बता सकना कि वह किसके
(२) जो कुछ कहा जाय, उसे दुहरा सकना।
(३) एक हाथ तथा दोनों हाथों की अंगुलियाँ बता स
(४) गांठ देखकर वैसी गांठ लगा लेना।
(५) मक्खी और तितली का भेद बताना।
(६) सरल चित्रों को देखकर वैसा बना सकना।
(७) पाँच अंकों को दुहराना।
(८) कुछ सरल प्रश्नों का

आठ वर्ष:—

(१) छोटी-छोटी कहानियाँ सुनकर फिर उन्हें बता सकना।
(२) बोले गये वाक्यों की त्रुटियाँ बता सकना।
(३) जानकारी की वस्तुओं की समानता तथा अन्तर बता सकना।
(४) छोटे-छोटे वाक्यों को याद रख सकना।
(५) व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर। गाड़ी छूट गई, तो क्या करोगे ?

(घ) बुद्धि के विषय में निर्णय:—

ऊपर बताये गये प्रश्नों के आधार पर बालक की बुद्धि लब्धि निकाल कर देखा जा सकता है कि उसका बौद्धिक स्तर कितना है। सामान्य बुद्धि के शिशु की लब्धि १०० के निकट होगी, कम योग्य शिशु की १०० से कम और योग्य शिशु की १०० से अधिक। बुद्धि लब्धि के आधार पर शिशुओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।—

बुद्धि लब्धि	बुद्धि का प्रकार	
० — २५	जड़	Idiot
२५ — ५०	मूढ़	Imbecile
५० — ७०	मूर्ख	Moron
७० — ९०	मन्दबुद्धि	Dull
९० — ११०	सामान्य	Average or Normal
११० — १२०	तीव्र	Superior
१२० — १४०	प्रखर	Very Superior
१४० से ऊपर	प्रतिभाशाली	Genius

प्रेम (Platonic love) है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस आ
यौनिक भावना रहती अवश्य है, क्योंकि यौनिक का तात्पर्य विपरीत लिङ्ग के
आकर्षण है; भले ही उस आकर्षण का आधार कामुकता न होकर शुद्ध प्रेम ही हो।

जैसा पहले बताया जा चुका है कि ३ से ६ वर्ष की इस आयु में शिशु का सा
जिक क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। वह अब अपने तथा अपने से विपरीत लिङ्ग
शिशुओं के सम्पर्क में आता है। विपरीत लिङ्ग के शिशु को देखकर उसे आश्चर्य हो
है और उसमें यह जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि "वह वैसा क्यों है, मुझ-
यों नहीं ?" इस प्रकार वे एक दूसरे के शरीर को छूने लगते हैं। यदि शिशु को अ
अथवा किसी अन्य शिशु के शरीर से खेलते हुए देखा जाय, तो उस पर क्रुद्ध होना अथ
यह बताना कि ऐसा करना हानिकारक अथवा पाप है, अवैज्ञानिक है। सामान्यतः उ
कुछ भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जब उसकी जिज्ञासा शान्त हो जायगी, वह स्वयं
यह काम छोड़ देगा। पर जो शिशु चिन्तित रहते हैं, वे इन खेलों को शीघ्र नहीं छोड़ते
माता-पिता को चाहिये कि वे शिशु को दण्ड देने की जगह उसकी चिन्ताओं को दू
करके उसकी सहायता करें। इस आयु में शिशु की अधिकांश चिन्तायें अपने लिङ्ग
सम्बन्ध में ही होती हैं। विपरीत लिङ्ग के शिशु को देखकर वह इतना तो जान
जाता है कि उसके शरीर तथा दूसरे शिशु के शरीर की बनावट में क्या अन्तर है।
अन्तर ही चिन्ता का कारण है। बालक समझता है कि बालिका को अवश्य कभी चो
ट आई होगी जैसी कि अंगुली पर चाकू लगने और उसके कटकर गिर जाने
होती है। वह कल्पनामय तो होता ही है और वह यह कल्पना कर लेता है कि ऐसी ही
चोट उसे भी लग सकती है। बालिका सोचती है कि "पहले मेरा शरीर बालक-जैसा
रहा होगा; पर मुझे कभी कोई चोट लगी होगी।" इस प्रकार दोनों में चिन्ता होना
स्वाभाविक है। यह देखने के लिये कि उनकी चिन्तायें वास्तविक हैं या नहीं, वे एक
दूसरे के शरीर को छूते हैं। पर इससे सामान्यतः उनकी चिन्तायें दूर नहीं होतीं। फिर
अपने माता-पिता से इसके विषय में पूछने का प्रयत्न करते हैं, पर अधिकांश माता-
पिता उन्हें डाँट फटकार देते हैं, जिससे उनकी चिन्तायें बढ़ जाती हैं।

जिन शिशुओं को शरीर से खेलने अथवा यौनिक प्रश्न पूछने के कारण डाँट-
फटकार मिलती है, उनमें नाखून कुतरने और टाँग हिलाने-जैसी आदतें पड़ जाती हैं।
लिये ऐसे शिशु से सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार करना ही उत्तम है। शिशु को यह
कहना कि शरीर छूना उसे रोगी कर देगा, उसकी इन्द्रियों को हानि पहुँचावेगा अथवा
पापी बना देगा, ... । पहली बात तो यह है कि यह सब असत्य है। शरीर
... अंग समान ... और पवित्र हैं। यदि सिर को छूने से मनुष्य
... पापी ... तो कोई वजह नहीं ... जननेन्द्रि को छूकर वैसा
... के मन में ... कर लेता है। शरीर

व के लिये उतना हानिकारक नहीं, जितना उसके बारे मे चिन्ता करना।
ा-धमकाकर शिशु को शरीर छूने से रोक तो पाते नही, उसको चिन्ताओ
य कर देते हैं।

यो को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि शिशु से प्रेम-पूर्वक
जाय और उसके यौन-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर ठीक-ठीक दिया जाय।
निक शिक्षा के सम्बन्ध मे हम आगे सविस्तार बताने का प्रयत्न करेंगे।

२. बाल्यकाल

की समस्यायें शैशव से भिन्न नही, अपितु उन्ही का विकसित रूप हैं।
ा-पिता, सहानुभूति-पूर्ण बच्चो की चिन्ताओ को दूर नहीं करते, तो
ेलने की आदत बनी रहती है। पर अब शरीर की स्पर्श, ज्ञानेन्द्रि
न हो जाती है, इसलिये शरीर से खेलने पर बच्चे को एक विशेष
ोता है, जो उसे आनन्ददायक प्रतीत होता है। इस प्रकार शरीर
रुचि बढ़ जाती है और एक दूसरे के शरीर से खेलने की रुचि मे
नसे बालक मे कई बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती है। हम इस बात
क बालक को इन दोषो से बचाने का उपाय मार-पीट अथवा
सहानुभूति पूर्ण पथ-प्रदर्शन (Sympathetic Guidance)
चरित्र की रक्षा की जा सकती है। यदि ऐसा न किया जाय,
lasterbation), समर्मैथुन (Homo-Sexuality) और
y) जैसी बुराइयाँ आ जाती हैं।

क का काफी समय विद्यालय मे व्यतीत होता है, इसलिये
ापकों का भी यह कर्तव्य है कि वे उसे यौन-सम्बन्धी शिक्षा
का कहना है कि मनुष्य के यौनिक विकास के सम्बन्ध में
मे जितने सच्चे सहयोग की आवश्यकता है उतनी शिक्षा
बन्ध में नहीं। अमेरिका-सरीखे प्रगतिशील देशों के विद्या-
कारी प्रदान की जाती है। कई विद्यालयो मे प्रथम कक्षा के
ा, चूहे आदि जानवरों की रखवाली करवाई जाती है,
पक्षों के बारे मे ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। पशु किस प्रकार
है, उत्पन्न होते है आदि बातें वे सरलता से समझ जाते हैं।
वीं कक्षा मे बालको को प्राणिशास्त्र (Biology) और
on) के विषय मे ज्ञान करवाना अति उत्तम है।

छूना स्वास्थ्य के लिये उतना हानिकारक नहीं, जितना उसके बारे मे चिन्ता करना। माँ-बाप डरा-धमकाकर शिशु को शरीर छूने से रोक तो पाते नहीं, उसकी चिन्ताओं मे वृद्धि अवश्य कर देते हैं।

इन दोषों को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि शिशु से प्रेम-पूर्वक व्यवहार किया जाय और उसके यौन-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर ठीक-ठीक दिया जाय। बचपन की यौनिक शिक्षा के सम्बन्ध मे हम आगे सविस्तार बताने का प्रयत्न करेंगे।

२. बाल्यकाल

बाल्यकाल की समस्यायें शैशव से भिन्न नही, अपितु उन्ही का विकसित रूप हैं। शैशव मे यदि माता-पिता सहानुभूति-पूर्ण बच्चों की चिन्ताओ को दूर नही करते, तो उसकी शरीर से खेलने की आदत बनी रहती है। पर अब शरीर की स्पर्श, ज्ञानेन्द्रि पहले से अधिक चेतन हो जाती है, इसलिये शरीर से खेलने पर बच्चे को एक विशेष प्रकार का अनुभव होता है, जो उसे आनन्ददायक प्रतीत होता है। इस प्रकार शरीर से खेलने की उसकी रुचि बढ़ जाती है और एक दूसरे के शरीर से खेलने की रुचि में भी वृद्धि होती है, जिससे बालक मे कई बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। हम इस बात पर फिर जोर देते है कि बालक को इन दोषो से बचाने का उपाय मार-पीट अथवा डाट-फटकार नही है। सहानुभूति-पूर्ण पथ-प्रदर्शन (Sympathetic Guidance) के द्वारा ही बालकों के चरित्र की रक्षा की जा सकती है। यदि ऐसा न किया जाय, तो उनमें हस्तमैथुन (Masterbation), सममैथुन (Homo-Sexuality) और विपरमैथुन (Sodomy) जैसी बुराइयाँ आ जाती हैं।

बाल्यकाल में बालक का काफ़ी समय विद्यालय मे व्यतीत होता है, इसलिये माता-पिता के साथ अध्यापकों का भी यह कर्तव्य है कि वे उसे यौन-सम्बन्धी शिक्षा प्रदान करें। मेरी स्टोप्स का कहना है कि मनुष्य के यौनिक विकास के सम्बन्ध में माता-पिता और अध्यापकों मे जितने सच्चे सहयोग की आवश्यकता है उतनी शिक्षा के किसी अन्य विषय के सम्बन्ध में नही। अमेरिका-सरीखे प्रगतिशील देशों के विद्यालयो में इस सम्बन्ध मे जानकारी प्रदान की जाती है। कई विद्यालयों में प्रथम कक्षा के विद्यार्थियों से स्कूल के खरगोश, चूहे आदि जानवरों की रखवाली करवाई जाती है, जिससे वे पशु जीवन के सभी पक्षों के बारे मे ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। पशु किस प्रकार खाते है, लड़ते हैं, मैथुन करते हैं, उत्पन्न होते हैं आदि बातें वे सरलता से समझ जाते हैं। डॉक्टर स्पॉक के अनुसार पाँचवीं कक्षा मे बालकों को प्राणिशास्त्र (Biology) और सन्तानोत्पत्ति (Reproduction) के विषय मे ज्ञान करवाना अति उत्तम है।

पात्र कोई अभिनेता होता है, पर धीरे-धीरे उसकी रुचि रोज के मिलनेवाले किसी समवयस्क किशोर में केन्द्रित हो जाती है। वह कल्पनामय बहुत होती है और अक्सर अपने प्रिय किशोर के बारे में चिन्तन करती रहती है।

माता-पिता को समझ लेना चाहिये कि ऐसा स्वाभाविक है। हाँ किसी किशोर के प्रति अधिक आसक्ति कभी-कभी बाद में हानिकारक हो सकती है। इसके लिये उसका ध्यान कविता, कला आदि मार्मिक विषयों की ओर आकृष्ट करना चाहिये। कामवृत्ति का शोधन करने के लिये उनकी रुचि संगीत में केन्द्रित की जा सकती है। किशोरी को यह बताना कि किशोरों के बारे में सोचना बुरा है या पाप है, अवैज्ञानिक है।

(ख) बालक का यौनिक विकास—

बालिका की भाँति बालक का यौनिक विकास भी शारीरिक और भावनात्मक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१. शारीरिक विकास - सामान्य बालक का यौनिक विकास सामान्य बालिका के यौनिक विकास से दो वर्ष बाद आरंभ होता है। इस प्रकार सामान्यत: बालक में तेरह वर्ष की आयु में यौवन का आगमन होता है। बहुत से बालक ऐसे भी हैं, जिनका यह विकास ११ वर्ष की आयु में पूर्ण हो जाता है, और ऐसे भी हैं, जिनमे यह विकास १५ वर्ष की आयु तक भी आरम्भ नही होता।

यौवनोद्गम के समय बालक का लिंग (Penis), अण्ड (Testicles) और अण्डकोष की थैली (Scrotum) बड़ी तीव्रता से विकसित हो जाती है। जननेंद्रिय पर बाल उगने लगते हैं। कुछ दिनों के बाद बगलों और चेहरे पर भी बाल उगने लगते हैं। एक दो वर्ष के भीतर उसके अण्ड पर्याप्त रस उत्पन्न करने लगते हैं और फिर उसके जीवन में एक रात ऐसी आती है, जब सपने में उसके अण्ड का कुछ रस जननेन्द्रिय के द्वारा बाहर निकल जाता है। यह गीला सपना वह विभाजक रेखा है, जहाँ वह बालपन को छोड़ पुरुषत्व में कदम रखता है। यह सर्वथा स्वाभाविक है, फिर भी जिस बालक को इसके विषय में पहले से ज्ञान नहीं रहता, इसको देखकर चिन्तित हो जाता है, जिस प्रकार बालिका रजोदर्शन को रोग ही समझती है, उसी प्रकार बालक भी इसे रोग ही समझता है। माता-पिता का यह कर्तव्य है कि बालक को यह समझा दें कि ऐसा ... है। चेसर (Chesser) के अनुसार जिस प्रकार मनुष्य अपने बनाये हुए ... को बनाने से पहले उसकी परीक्षा लेता है, उसी प्रकार प्रकृति अपने बनाये हुए ... का परीक्षण करती है। इस आयु में बालक का कद और वजन दोनों पहले से ... वेग से बढ़ते हैं। उसकी आवाज पुरुष की भाँति गहरी और गम्भीर हो जाती है।

२. भावनात्मक विकास—किशोरी की भाँति किशोर का ध्यान अपने शरीर में आकर्षित हो जाता है। उसकी भावनायें भी असन्तुलित होती हैं और वह समझ नहीं पाता कि वह बालक है या पुरुष। कभी तो वह यह चाहता है कि दूसरे उसे बालक

वे एक दूसरे को अपने समान समझते है, पर धीरे-धीरे एक दूसरे की शारीरिक भिन्नताओं को देखकर आश्चर्य-चकित होते हैं। वे एक दूसरे के शरीरों को छूते हैं, देखते हैं और उनसे खेलते हैं, पर इनमें केवल जिज्ञासा ही होती है, कामुकता नहीं।

शैशव में बालिका-बालक का सम्बन्ध बराबरी के स्तर पर मैत्रीपूर्ण रहता है यह एक दूसरे से बड़ी प्रसन्नता से खेलते हैं, पर यह प्रसन्नता उतनी ही होती है, जितनी कि उन्हें अपने लिंग के शिशु से खेल कर होती है।

(ख) बाल्यकाल:—

बाल्यकाल में यह दशा नहीं रहती। इस आयु में बालक अपने लिंग के साथियों की ओर आकृष्ट हो जाता है। फिर भी वह दस-बारह वर्ष की आयु तक विपरीत लिंग के व्यक्ति से खेलने में कोई शर्म नहीं समझता। इस आयु में माता-पिता अक्सर यह प्रयत्न करते हैं कि लड़की और लड़का इकट्ठे न खेलें, पर वास्तव में ऐसा करना कभी-कभी हानिकारक हो जाता है। माता-पिता बालक को डाँट-डपटकर या यह बताकर ही कि 'विपरीत लिंगवालों के साथ खेलना बुरा है, उनको एक दूसरे से दूर कर सकते हैं। पर इससे दूसरे लिंग के प्रति हृदय में एक स्थायी भाव (Sentiment) बन जाता है और व्यक्ति की प्रवृत्ति दूसरे लिंगवालों से दूर रहने की हो जाती है, जिसके कारण विवाह के उपरान्त उसे दूसरे से समायुक्त (Adjust) करने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

इस आयु में बालिका और बालक स्कूल जाने लगते हैं। विद्वानों ने इस काल के लिए सह-शिक्षा (co-education) को अच्छा माना है। इससे बालिका और बालक समानता के आधार पर एक दूसरे से व्यवहार करते हैं, इससे उनके मन में एक दूसरे के प्रति शत्रुता का स्थायी भाव उत्पन्न नहीं होता। बाल्यकाल में व्यक्ति की रुचि विपरीत लिंग में नहीं होती, इसलिये सह-शिक्षा से कोई हानि नहीं।

(ग) किशोरावस्था:—

यह आयु तो विपरीत लिंग से आकर्षण की आयु है ही। लड़की और लड़का एक दूसरे में रुचि लेने लगते और प्रयत्न करते हैं कि वे अधिक समय तक एक साथ रहें। पहले तो उनमें मैत्री होती है, पर धीरे-धीरे विशिष्ट लड़की और लड़का परस्पर प्रेम (love) के सूत्र में बंध जाते हैं। पर चूंकि इस आयु में व्यक्ति की भावनायें असन्तुलित रहती हैं, इसलिये यह प्रेम संवेगात्मक (Emotional) होता है। वे एक दूसरे को प्राप्त करने के लिये जीवन की बाजी भी लगाने को तैयार हो जाते हैं, पर इस आयु का प्रेम-विवाह (Love-marriage) अक्सर असफल होता है। कारण स्पष्ट है। यह प्रेम संवेगों पर आधारित होता है, पर वास्तविक जीवन को सफल बनाने के लिये संवेगों पर नियन्त्रण करना पड़ता है। इसके साथ ही संवेग अस्थायी भी होते

है और उनके नष्ट हो जाने पर उन पर खड़ा हुआ प्रेम का भवन गिर जाता है। किशोरावस्था के बाद के काल (जिसे हम प्रौढ़ावस्था कह सकते हैं) का प्रेम न तो सवेगात्मक होता है और न अस्थायी, इसलिये इसके नष्ट होने की सम्भावना रहती है। हमारे भारत में अधिक विवाह प्रेम के आधार पर नहीं होते, अक्सर माता-पिता ही अपनी सन्तान के लिये जीवन-साथी खोज देते हैं। यह विवाह भी भलीभाँति सफल हो सकता है, क्योंकि इस प्रकार के विवाह के फलस्वरूप पति-पत्नी में जो प्रेम उत्पन्न होता है, वह स्थायी होता है।

इस आयु में लड़कियाँ और लड़के एक दूसरे में आसक्त होकर कभी-कभी कई त्रुटियाँ कर बैठते हैं, जिनके लिए उन्हें जीवन-पर्यन्त पछताना पड़ता है। अतः इस आयु में उन्हें एक दूसरे से दूर ही रखना चाहिये। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इस आयु में सह-शिक्षा कई सामाजिक बुराइयों की जड़ है। प्रौढ़ावस्था की सह-शिक्षा आवश्यक है। बाल्यपन की सह-शिक्षा भी आवश्यक है, पर दोनों के बीच के काल किशोरावस्था की सह-शिक्षा अनावश्यक और हानिप्रद है। उनको अलग करने का यह उपाय नहीं कि उनके मन में विपरीत लिंग के प्रति घृणा उत्पन्न की जाय या उन्हें डाँटा-फटकारा जाय। माता-पिता से हमारा फिर यह अनुरोध है कि वे इस उपाय को न अपनायें। लड़के-लड़कियों की रुचि कविता-कला-संगीत आदि विषयों में प्रवृत्त करनी चाहिये और उन्हें हर समय किसी न किसी कार्य में लगाये रखना चाहिए।

इस आयु में किशोरों को अधिक सिनेमा देखने देना भी अच्छा नहीं, क्योंकि इससे उनमें किसी अभिनेता या अभिनेत्री के प्रति सवेगात्मक आकर्षण हो जाता है, जिससे उन्हें बाद में कठिनाई पड़ती है। भारत में अधिकतर चलचित्र ऐसे बन रहे हैं, जिनका केवल ध्येय कामाग्नि को प्रज्वलित करना है। जिससे किशोरों का दूसरे लिंग के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है और कभी-कभी उन्हें गिरने से बचाना कठिन हो जाता है। इसके साथ ही चलचित्रों में ऐसा प्रेम दिखाया जाता है, जो आदर्श है। किशोर उस प्रेम को देखकर अपने भावी प्रेमी से भी वैसे ही प्रेम की आशा करते हैं। विवाह होने पर उन्हें उस प्रेम का अभाव प्रतीत होता है, जिससे वैवाहिक सन्तुलन कठिन हो जाता है। ये ही बातें हम प्रेम-साहित्य के बारे में भी कह सकते हैं। किशोरों को केवल वे चित्र दिखाये जायें जो इतिहास या नीति से सम्बन्ध रखते हों। इसी प्रकार उन्हें अच्छा साहित्य पढ़ने को दिया जाय।

इस सबका आशय यह नहीं कि लड़की-लड़के का परस्पर आकर्षण बुरा है या पाप है और उन्हें एक दूसरे से ऐसा दूर रखा जाय कि वे एक दूसरे को देख ही न सकें। लड़की-लड़के की पारस्परिक आसक्ति स्वाभाविक है, भगवान् के द्वारा इसलिये उत्पन्न की गई है कि उनका संसार नष्ट न हो जाय। बुराई तभी आरम्भ होती है जब यह आसक्ति अवैध सम्बन्धों (Illegal Relations) का रूप धारण कर लेती

है। हमारा कार्य इन्हीं को रोकना है। पर यह जानना कि कहाँ पवित्र आकृष्टि समाप्त होकर अवैध बन जाती है, बड़ा कठिन है। इसके लिये माता-पिता को सदा जागरूक रहना आवश्यक है। उन्हें किशोरियों और किशोरों के पारस्परिक सम्बन्धों पर दृष्टि रखनी चाहिये, पर इस प्रकार जैसे कोई पथ-प्रदर्शक अपने पीछे आनेवालों पर रखता है। उन्हें बालिकाओं और बालकों का उचित पथ-प्रदर्शन करना चाहिए।

५. बचपन की यौन सम्बन्धी शिक्षा
(Childhood Sex-education)

बच्चों से यौन सम्बन्धी भय और चिन्ता को दूर करने के लिए उन्हें यौन संबंधी शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए, और वास्तव में माता-पिता चाहें या न चाहें शैशव में ही यह आरम्भ हो जाती है। यौनिक शिक्षा का अर्थ यह नहीं कि माता-पिता बच्चों के सामने यौनिक विषयों पर नियोजित भाषण दें। बच्चा शैशव से ही 'जीवन के सत्य' के विषय में जानने लगता है। उसे यह ज्ञान अच्छी रीति से मिल सकता है और यदि ऐसा न किया जाय, तो उसे ज्ञान तो मिलता ही है, पर रीति अच्छी नहीं होती। यौनिक शिक्षा का ध्येय बच्चों को वह ज्ञान अच्छी रीति से देना है।

अक्सर माता-पिता यह सोचते हैं कि जब तक बालक विवाह योग्य नहीं हो जाते, तब तक उन्हें यौनिक शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। यह कहना वैसा ही है कि जब तक बालक एकाउन्टेंट न बन जाय, तब तक उसे गणित की शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं। माता-पिता का ध्येय तो बालक को इस योग्य बनाना है कि जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण स्वस्थ और प्रौढ़ हो। अतः उन्हें स्वतन्त्र जीवन में प्रविष्ट होने से पहले जीवन के सभी पक्षों की जानकारी प्राप्त होनी ही चाहिए। यौनिक शिक्षा पर दूसरी आपत्ति यह की जा सकती है कि बालक से यौनिक विषयों पर बात करना सामाजिक दृष्टि से बुरा है, पर ऐसा सोचना भ्रमपूर्ण है। समाज चाहता है कि उसके सदस्य चरित्रवान् बनें और व्यक्ति को चरित्रवान् बनाने के लिये उसे यौनिक शिक्षा देना आवश्यक है अन्यथा वह इन विषयों का ज्ञान तो प्राप्त कर ही लेगा, पर वे साधन जिनके द्वारा वह ज्ञान प्राप्त करेगा, बहुत बुरे होंगे और उनका सामाजिक परिणाम बहुत ही निन्दनीय होगा। बचपन की यौनिक शिक्षा के विषय में एक आपत्ति यह भी की जाती है कि यदि बच्चों को यौनिक कार्यों के विषय में बता दिया जाय, तो क्या वे यौनिक खेलों और अनैतिक कार्यों के द्वारा उनका प्रयोग नहीं करेंगे? डाक्टर मूनी (Mooney) के अनुसार वे इस शिक्षा का प्रयोग उन बच्चों से अधिक नहीं करेंगे, जो इस ज्ञान से अनभिज्ञ होते हैं। ज्ञान और व्यवहार में अन्तर है। यदि किसी व्यक्ति को धूम्रपान के विषय का ज्ञान कराया जाय, तो आवश्यक नहीं कि वह धूम्रपान [illegible] देगा। इसके विपरीत जिसे धूम्रपान के विषय में न बताया जाय,

उसकी भी इसके आरम्भ करने की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि बालक यौनिक शिक्षा का प्रयोग करे। हमारे पूर्वजों का यह विचार था और अब भी बहुत लोगों का है कि यौवन की रक्षा के लिये अज्ञानता (Innocence) की आवश्यकता है। पर देखा गया है कि यौनिक विषयों की अज्ञानता अ चरित्र का निर्माण नहीं करती। कई अबोध व्यक्ति भी चरित्र-हीन हो जात यौनिक रोगों (Venereal Diseases) का शिकार हो जाते हैं। कुछ लो विचार है कि बच्चों को यौन सम्बन्धी शिक्षा तो देनी चाहिये। पर माता-पिता को इसमें स्पष्टता (Frank) नहीं होना चाहिये, अतः उन्हें इस विषय पर कोई पुस्तक पढ़ने को दे देनी चाहिये। प्रथम तो यह कि यौन-सम्बन्धी शिक्षा शुरू हो जाती है और शिशु इस योग्य नहीं होता कि वह पढ़ सके, दूसरे कीय ज्ञान ही पर्याप्त नहीं, बात-चीत के द्वारा शिशु का ज्ञान शुद्ध होता है।

अतः माता-पिता के द्वारा शिशु को यौनिक शिक्षा मिलनी ही चाहिये। उठता है कि यह शिक्षा कब आरम्भ होनी चाहिये उत्तर स्पष्ट है। व्यक्ति जन्म मृत्यु तक कुछ न कुछ सीखता रहता है, इसीलिये यौनिक शिक्षा का आरम्भ शैश हो जाना चाहिये। तीन वर्ष का सामान्य शिशु यौनिक विषयों के प्रश्न पूछने है। वह अपने प्रश्नों को यौन सम्बन्धी प्रश्न नहीं समझता। तीन वर्ष की आयु शिशु माता अथवा पिता से पूछ बैठता है कि 'बच्चे कहाँ से आते हैं?' उसकी यौनिक शिक्षा आरम्भ हो जाती है। कुछ माता-पिता इस प्रश्न का देकर पीछा छुड़ा लेते हैं कि अस्पताल से आते हैं अथवा बाजार से आते ही झूठ से होता है। अच्छा तो यह है कि आरम्भ से ही सत्य को आधार य। शिशु के प्रश्नों का उत्तर सरल शब्दों में देना चाहिये। शिशु बहुत छोटा ारण शब्दों को तो याद नहीं रख पाता, पर उनका प्रभाव उस पर वर्षों तक अतः शिशु को जो ज्ञान दिया जाय, उसमें झूठ का पुट न होना चाहिये।

क के यौनिक प्रश्नों के विषय में एक बात और ध्यान देने की यह है कि निश्चित समय नहीं और न ही बालक माता-पिता को उत्तर सोचने का है। उसके प्रश्न बिल्कुल असम्भावित होते हैं। कभी बाजार में सब्जी लेते, नों से खेलते, सैर करते अकस्मात् उसके मन में एक समस्या, एक प्रश्न ा है और वह अवसर देखे बिना उसी समय अपना प्रश्न माता अथवा स उपस्थित कर देता है। इससे माता-पिता चकित हो जाते और कि बालक यौनिक कार्यों के सम्बन्ध में पूछ रहा है। माता-पिता को देना चाहिये कि ऐसे प्रश्न बुरे हैं। उन्हें तत्काल बालक के प्रश्न र दे देना चाहिये। पर चूंकि बालक के प्रश्न असम्भावित (unex-

pected) होते हैं, इसलिये अक्सर माता-पिता बड़े चक्कर में पड़ जाते हैं। उनकी सुविधा के लिये कुछ प्रश्नों का संग्रह किया गया है, जो अधिकांश बच्चे पूछते हैं। माता-पिता की सुगमता के लिये हम वे प्रश्न यहाँ दे रहे और यह बताने का प्रयत्न कर रहे हैं कि उनका उत्तर किन शब्दों में देना चाहिये। फिर भी यह समझ लेना नितान्त आवश्यक है कि बालकों के प्रश्न उन्हीं शब्दों में नहीं होते, जिनकी हम आशा करते हैं, और न ही सदा उसी क्रम से होते हैं, जैसा कि नीचे दिया गया है। यह भी आवश्यक नहीं, जो उत्तर हम यहाँ दे रहे हैं माता-पिता भी बिल्कुल वैसे ही दें। उत्तर सत्य और सरल होने चाहिये, यही आदर्श है। अब हम कुछ प्रश्न और उनके उत्तर देकर यौनिक विकास के अध्ययन को समाप्त करेंगे। इन प्रश्नों की कोई निश्चित आयु नहीं। एक प्रश्न यदि तीन वर्ष की आयु में उपस्थित होता है, तो दूसरा तेरह वर्ष की आयु में हो सकता है। इसलिये उत्तर देते समय शिशु की आयु का ध्यान रखना आवश्यक है। क्योंकि अधिकांश प्रश्न माता से पूछे जाते हैं, इसलिये उत्तर माता की ओर से लिखे जा रहे हैं।

प्रश्न—बच्चे कहाँ से आते हैं ?
उत्तर—माता के पेट से।
प्रश्न—माता के पेट में कैसे पहुँच जाते हैं ?
उत्तर—माता के पेट में राई के दाने-जैसा एक पदार्थ होता है जिसे डिम्ब कहते हैं। यही डिम्ब बड़ा होकर बच्चा बन जाता है।
प्रश्न—बच्चे माता के पेट में कहाँ रहते हैं ?
उत्तर—बच्चेदानी में।
प्रश्न—बच्चेदानी क्या होती है ?
उत्तर—माता के शरीर में एक थैली होती है, जिसमें बच्चा रहता और बड़ा होता है।
प्रश्न—बच्चा बच्चेदानी में कितने दिन रहता है ?
उत्तर—नौ मास दस दिन।
प्रश्न—यह माता के पेट से बाहर कैसे आता है ?
उत्तर—जब बच्चेदानी खुलती है, तो बच्चा योनि के रास्ते संसार में आ जाता है। इसी को हम जन्म लेना कहते हैं।
प्रश्न—बच्चेदानी कब खुलती है ?
उत्तर—जब बच्चा संसार में आनेवाला होता है।
प्रश्न—क्या मैं भी पेट में रहा/रही ?

उत्तर— जन्म लेने से पहले।

प्रश्न—मुझे तो याद नहीं कि मैं कब पेट में रहा/रही अथवा मुझे तो याद नहीं मैंने कब जन्म लिया।

उत्तर—यह किसी को याद नहीं रहता। ज्यों-ज्यों मनुष्य बड़ा होता है, त्यों-त्यों उसकी स्मरण-शक्ति बढ़ती है।

प्रश्न—क्या मेरे बाकी बहन-भाई भी तुम्हारे पेट में रहे।

उत्तर—जी हाँ, जन्म से पहले सभी अपनी मां के पेट में रहते हैं।

प्रश्न—क्या पिताजी भी तुम्हारे पेट में रहे।

उत्तर—जी नहीं, वह अपनी मां अर्थात् तुम्हारी दादी के पेट में रहे।

प्रश्न—क्या तुम भी दादी के पेट में रहीं।

उत्तर—जी नहीं, मैं अपनी मां, अर्थात् तुम्हारी नानी के पेट में रही।

प्रश्न—क्या दादी, नानी के बच्चेदानी है?

उत्तर—जी हाँ सभी स्त्रियों के बच्चेदानी होती है।

प्रश्न—क्या मेरे भी बच्चेदानी है?

उत्तर—जी नहीं, तुम लड़के हो, लड़कों के बच्चेदानी नहीं होती, बच्चेदानी केवल लड़कियों के होती है।

अथवा

जी हाँ, सभी लड़कियों और स्त्रियों के बच्चेदानी होती है।

प्रश्न—तो मेरे बच्चे कैसे होंगे?

अथवा

तो मेरे बच्चे क्यों नहीं होते?

उत्तर—बच्चे केवल स्त्रियों के पेट में होते हैं। तुम्हारी जब शादी होगी, तो तुम्हारी बीबी तुम्हारे लिये बच्चे पैदा करेगी।

अथवा

तुम अभी छोटी हो जब बड़ी हो जाओगी और तुम्हारा विवाह हो जायेगा, तब तुम्हारे बच्चे भी होंगे।

प्रश्न—तो क्या मुझे बच्चा पैदा करने के लिये विवाह करना पड़ेगा?

उत्तर—बच्चे के लिये माता-पिता दोनों की आवश्यकता होती है। दोनों मिलकर बच्चे को बनाते हैं, इसलिये बच्चा बनाने के लिये स्त्री और पुरुष दोनों का इकट्ठा रहना आवश्यक है। दोनों को इकट्ठा रहने का अवसर प्रदान करना विवाह ही है।

प्रश्न—क्या तुम्हारे पास मेरे-जैसा लिंग है? (बालक)

उत्तर—नहीं, यह केवल पुरुषों और लड़कों के ही होता है।

प्रश्न —क्या पिताजी के पास है ?

उत्तर—हाँ, सभी पुरुषों और लड़कों के पास होता है।

प्रश्न —क्या तुम्हारा खो गया है ?

उत्तर—नहीं, लड़कियों और स्त्रियों के होता ही नहीं।

प्रश्न —क्या मेरा खो जायगा ?

उत्तर—नहीं, लड़कियों और लड़कों में यही अन्तर होता है कि लड़कों के लिंग होता है और लड़कियों के योनि। जीवन भर ऐसा ही रहता है।

प्रश्न —डिम्ब माता के शरीर में कहाँ रहता है ?

उत्तर—हर स्त्री के शरीर में दो डिम्ब कोष होते हैं, जिनमें से हर महीने एक डिम्ब निकलता है, जिनमें से कोई एक भी बच्चा बन सकता है।

प्रश्न —तो फिर हर महीने बच्चा क्यों नहीं पैदा होता ?

उत्तर—डिम्ब तब तक बच्चा नहीं बन सकता, जब तक वह पिता के शुक्र से नहीं मिल जाता। जब ये दोनों डिम्ब और शुक्र मिल जाते हैं, तब बच्चा बनना शुरू हो जाता है और नये डिम्ब निकलने बन्द हो जाते हैं। नौ मास दस दिन में बच्चा पूरा तैयार होकर संसार में आ जाता है।

प्रश्न —शुक्र क्या होता है ?

उत्तर—शुक्र छोटा-सा जीव है, जो माता के डिम्ब से मिलकर शिशु के बनने का आरंभ करता है। बिना दोनों के मिले शिशु बनना आरम्भ नहीं होता।

प्रश्न —पिता का शुक्र कहाँ रहता है ?

उत्तर—वह अण्डु में पैदा होते हैं। जिस प्रकार माता में डिम्ब कोष होता है, उसी प्रकार पिता में अण्डु होता है।

प्रश्न —शुक्र और डिम्ब परस्पर कैसे मिलते हैं ?

उत्तर—शुक्र अण्डु से लिंग के रास्ते निकलता है और डिम्बकोष से निकलकर बच्चेदानी में आता है। पिता अपने लिंग को योनि में डालकर शुक्र को वहाँ छोड़ देता है। एक बार पिता करोड़ों शुक्र वहाँ छोड़ता है। ये शुक्र चलकर बच्चेदानी में पहुँच जाते हैं। वहाँ उन्हें डिम्ब मिलता है। जब एक शुक्र डिम्ब से मिल जाता है, तो शेष करोड़ों शुक्र समाप्त हो जाते हैं और वह शुक्र-डिम्ब मिला अपना शिशु बनना आरंभ कर देता है और नौ मास दस दिन बाद जन्म ले लेता है।

प्रश्न —कभी-कभी दो बच्चे इकट्ठे क्यों पैदा हो जाते हैं ?

उत्तर—जब एक डिम्ब से दो शुक्र मिल जाते हैं या एक ही समय दो डिम्ब डिम्ब-कोष से बच्चेदानी में आकर शुक्रों से मिल जाते हैं, तो नौ मास दस दिन बाद एक साथ दो बच्चे पैदा होते हैं।

प्रश्न — मासिकधर्म क्या है ? (बालिका)

उत्तर—यह बच्चेदानी का खून है, जो १२ से १५ वर्ष की आयु से हर लड़की को महीने तीन या चार दिनों के लिये आने लगता है। इस समय उसकी ब उत्पन्न करने की आयु आरम्भ हो जाती है। शुक्र और डिम्ब के परस्पर मि जाने को हम गर्भ ठहरना कहते हैं। जब गर्भ ठहर जाता है, तो मासिकध बन्द हो जाता है और बच्चा उत्पन्न होने के बाद फिर से आने लगता है ४० से ४५ वर्ष की आयु के उपरान्त मासिक धर्म आना बन्द हो जाता है और स्त्री की बच्चे पैदा करने की आयु समाप्त हो जाती है।

प्रश्न—वह खून वैसा ही होता है, जैसा कि हाथ कट जाने से निकलता है ?

उत्तर—जी नहीं, वह फालतू खून होता है, जिसे शरीर हर मास बाहर फेंकता है।

प्रश्न—क्या लड़कों को भी मासिक धर्म आता है ?

उत्तर—जी नहीं, लड़कों को मासिकधर्म नहीं होता। मासिकधर्म का खून बच्चेदानी से आता है और लड़कों के बच्चेदानी नहीं होती।

...न—धातु स्राव क्या होता है ? (बालक)

...र—धातुस्राव अण्डुओं का रस है, जिसमें शुक्र रहते हैं। यह अण्डु में उत्पन्न होकर एक नली से होकर लिंग के रास्ते बाहिर निकलता है।

...—क्या लड़कियों को धातुस्राव होता है ?

...—जी नहीं। धातुस्राव केवल अण्डुओं में उत्पन्न होता है और लड़कियों के अण्डु नहीं होते।

...—तो लड़कों के क्या होता है ? (बालिका)

अथवा

...तो लड़कियों को क्या होता है ? (बालक)

...लड़कियों को मासिक-स्राव होता है, जो कि बच्चेदानी से रक्त की शक्ल में ...प्रतिमास आता है। लड़कों को धातुस्राव होता है, जो अण्डु से रस की शक्ल में ...निकलता है। इसी में शुक्र होते हैं। पर मासिकधर्म की भांति इसके निकलने ...समय निश्चित नहीं होता।

...मासिकधर्म लड़कियों और धातु स्राव लड़कों से निकलकर उनके स्वास्थ्य ...बुरा प्रभाव डालता है ?

...नहीं। मासिकधर्म बच्चेदानी का फालतू खून है, इसलिये उसका बाहर ...ना ही अच्छा है। इसी प्रकार अपने आप निकलनेवाला धातुस्राव भी ...का फालतू रस है, इसलिये उसके निकल जाने से भी स्वास्थ्य पर कोई ...रक प्रभाव नहीं पड़ता।

बाल-विकास (चारित्रिक)

[Development of the Child (Character)]

चरित्र व्यक्ति का वह मानसिक तत्त्व (Mental Factor) है, जिसके द्वारा उसका व्यवहार निर्धारित होता है। चरित्र व्यक्ति को उन धारणाओं का पुंज है, जो उसके नैतिक तथा सामाजिक व्यवहार का निर्माण करती है। चरित्र से ही व्यक्तित्व का निर्माण होता है तथा उसे उचित प्रतिक्रिया (Response) की कसौटी भी कहा जा सकता है। उचित प्रतिक्रिया से हमारा तात्पर्य यह है कि किसी भी परिस्थिति में पड़कर चरित्रवान् व्यक्ति उचित मार्ग ही अपनाता है।

व्यक्ति का चरित्र अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। चरित्र के विकास से हमारा आशय अच्छे चरित्र से है। चरित्रवान् व्यक्ति संकल्प (Determination) और आत्मगौरव (Self-Respect) से युक्त होता है, वह नैतिक तथा सामाजिक नियमों का सहर्ष पालन करता है। वह जो भी कार्य करता है, उसका प्रेरक कर्तव्य भावना होती है, लालच अथवा भय नहीं।

चरित्र का निर्माण क्रमशः होता है। मैक्डूगल ने चरित्र-विकास को चार व्यावहारिक स्तरों (Levels) में विभक्त किया है—

(१) जिसमें मूल-प्रवृत्यात्मक व्यवहारों का सुधार दुख और सुख के प्रभाव से होता है।

(२) जिसमें मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहारों का सुधार सामाजिक दण्ड अथवा पुरस्कार के आधार पर होता है।

(३) जिसमें व्यवहारों का नियन्त्रण सामाजिक निन्दा या यश की आशा से होता है।

(४) जिसमें व्यवहारों का नियन्त्रण उन आदर्शों के आधार पर होता है, जिन में औचित्य का निर्णय यश अथवा अपयश के आधार पर नहीं हुआ करता। चरित्र का यह स्तर ही सर्वोत्कृष्ट स्तर है।

चरित्रवान् व्यक्ति अपनी मूल-प्रवृत्तियों (Instincts) को अपने वश में रखता है, पशुओं अथवा चरित्र-हीन व्यक्तियों की भाँति उनका दास नहीं बन जाता। चरित्र की नींव मूल-प्रवृत्तियाँ ही होती हैं, यह जितनी प्रबल होंगी, उनके शोधन से उतना ही महान् बनेगा।

यद्यपि चरित्र-विकास का आरम्भ मूल-प्रवृत्तियों के आधार पर ही होता है— उसे विकास के सर्वोच्च स्तर पर पहुँचाने का श्रेय व्यक्ति के संवेग, (Emo-

tions) स्थायीभाव (Sentiments) और इच्छा-शक्ति (Will power) को मूल-प्रवृत्ति प्राणि में वह जन्मजात शक्ति है जो उसके व्यवहारों को नियन्त्रित करती है। परन्तु जैसे-जैसे वातावरण की प्रतिक्रिया (Reaction) उस पर होती है वह कुछ नये अनुभवों को प्राप्त करता है, जिससे उसके प्रवृत्यात्मक व्यवहारों में सुधार होने लगता है। मानसिक विकास में प्राप्त अर्जित-प्रवृत्तियाँ (Acquired Dispositions) ही व्यक्ति के व्यवहारों का नियन्त्रण करती हैं। आगे चलकर ये अर्जित-प्रवृत्तियाँ कुछ विभिन्न प्रणालियों में संगठित हो जाती हैं और प्रत्येक प्रणाली एक विशेष दिशा में होनेवाले व्यवहारों का नियन्त्रण करने लगती है।

पर सभी अर्जित-प्रवृत्तियाँ हमारे चरित्र के निर्माण में योग नहीं देतीं। केवल वही पदार्थ जो हमारी चेतना को स्पर्श करते हैं, हमारे भीतर संवेगों को उत्पन्न कर सकते हैं। जब किसी विशेष पदार्थ के आधार पर एक ही प्रकार का संवेग बारम्बार उत्पन्न हो या वह पदार्थ संवेगों के सुसंगठित समूह का केन्द्र बन जाता है। इन्हीं संगठनों को हम स्थायी भाव (Sentiment) कहते हैं।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि स्थायी भाव और आदत (Habit) में अन्तर होता है। आदत से प्रेरित होकर व्यक्ति यन्त्रवत् कार्य करता है, उसमें सोच-विचार की आवश्यकता नहीं होती। आदत जीवन के किन्हीं विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित रहती है इसके विपरीत स्थायी भावों पर मनुष्य के विचारों का बहुत प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त स्थायी भाव जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करता है। एक व्यक्ति यदि अन्न पर न गन्दगी को मन-पात्र में फेंकता है पर सड़क पर छिलके आदि फेंकने से हिचकता नहीं, तो घर में स्वच्छता रखने की उसकी आदत है, स्थायी भाव नहीं। चरित्र-निर्माण में आदत की अपेक्षा स्थायी भाव का प्रभाव अधिक पड़ता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल ने तो चरित्र को स्थायी भावों का समूह माना है।

स्थायी भावों के उत्पन्न होने पर नैतिक गुणों (Moral concepts) और आदर्शों (Ideals) की उत्पत्ति होती है। व्यक्ति को अपनी मूल-प्रवृत्यात्मक इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने के लिये अपनी आत्मसंयम भावनाओं को पुष्ट करने का प्रयोग करना पड़ता है। इसी पुष्टि को हम इच्छा-शक्ति कहते हैं। चरित्र की दृष्टि से दो व्यक्तियों का अन्तर प्रकारात्मक नहीं, होता अपितु मात्रात्मक होता है। जिस व्यक्ति की इच्छा-शक्ति जितनी अधिक पुष्ट होती है, वह उतना ही अधिक चरित्रशील होता है। नीचे हम चरित्र पर प्रभाव डालनेवाले तत्त्वों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

१. मूल-प्रवृत्तियाँ (Instincts)

किसी विशेष परिस्थिति में पड़कर व्यक्ति की प्रवृत्ति (tendancy) किसी विशेष क्रिया को करने की होती है। भय होने पर व्यक्ति भाग खड़ा होता है। भूख लगने पर भोजन की प्राप्ति के लिये चेष्टा करता है। प्रश्न यह है कि व्यक्ति की ऐसा करने की प्रवृत्ति क्यों होती है? प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—मूल-प्रवृत्तियाँ (Instincts) और अर्जित प्रवृत्तियाँ (Acquired dispositions)। मूल-प्रवृत्तियाँ जन्मजात हैं। अर्जित प्रवृत्तियाँ वातावरण और अनुभवों के प्रभाव से बनती हैं। इस भाग में हम मूल-प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में विवेचन करेंगे।

मैक्डूगल का कथन है कि "मूल-प्रवृत्ति प्राणी में वह जन्मजात शक्ति है, जिसके कारण वह किसी विशेष वस्तु को देखकर स्वभावतः उसकी ओर आकर्षित होता है। इस आकर्षण के परिणाम-स्वरूप वह विशेष प्रकार के भावों और क्रियात्मक प्रवृत्ति का अनुभव करता है, और इसी अनुभूति के फल-स्वरूप वह उपस्थित वस्तु से सम्बन्धित एक विशेष प्रकार की क्रिया में संलग्न हो जाता है।" अतः हमारी अधिकांश क्रियाओं का, हमारे अधिकांश व्यवहारों का कारण हमारी मूल-प्रवृत्तियाँ ही हैं। मूल-प्रवृत्तियाँ अपने आप हमें किसी क्रिया विशेष में संलग्न नहीं करतीं, अपितु कोई विशेष प्रवृत्ति तभी हमें प्रभावित करती है, जब उससे संबंधित संवेग उपस्थित हो। संवेग मन की वह दशा है, जिससे हम द्रवीभूत होते है, जैसे क्रोध, भय इत्यादि। संवेग उत्पन्न होता है किसी वस्तु, कार्य अथवा बात की उत्तेजना- (Stimulus) से। लड़ना हमारी मूल-प्रवृत्ति है, पर हम हर समय लड़ते नहीं रहते। लड़ते हम तब हैं, जब 'क्रोध' का संवेग हमें द्रवीभूत कर रहा है और क्रोध तभी उत्पन्न होता है जब कोई वस्तु, क्रिया या बात हमारे क्रोध को उत्तेजित करे।

मैक्डूगल के अनुसार प्राणी में १४ मूल-प्रवृत्तियाँ हैं। प्रत्येक मूल-प्रवृत्ति को भिन्न प्रकार का संवेग जाग्रत करता है।

मूल प्रवृत्ति		संवेग	
१. भागना	Escape	भय	Fear
२. लड़ना	Combat	क्रोध	Anger
३. निवृत्ति	Repulsion	घृणा	Disgust
४. पुत्र-कामना	Parental	वात्सल्य	Love
५. शरणागत	Appeal	करुणा	Distress
६. कामप्रवृत्ति	Sex	कामुकता	Lust
७. जिज्ञासा	Curiosity	आश्चर्य	Wonder

८. दैन्य	Submission	आत्महीनता	Negative Self-feeling
९. आत्मप्रदर्शन	Self-display	आत्माभिमान	Positive Self-feeling
१०. सामूहिकता	Social Instinct	एकाकीपन	Loneliness
११. भोजनान्वेषण	Food-Seeking	भूख	Appetite
१२. संग्रह-प्रवृत्ति	Collection	अधिकार-भावना	Feeling of owner-ship
१३. विधायकता	Construction .	रचनात्मक आनंद	Feeling of Creativeness
१४. हास	Laughter	आमोद	Amusement

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ये मूल-प्रवृत्तियाँ प्राणी-मात्र में पाई जाती हैं। चरित्रवान् व्यक्ति और पशु अथवा चरित्र-हीन व्यक्ति में केवल यही अन्तर होता है कि अथवा चरित्रहीन व्यक्ति अपनी मूल-प्रवृत्तियों का दास होता है। मूल-प्रवृत्ति उसे क्रिया की ओर ले जाती है, वह उसी में प्रवृत्त हो जाता है, जब कि चरित्रवान् क मूल-प्रवृत्तियों को अपने वश में रखना जानता है।

मानव व्यवहार के विकास में मूल-प्रवृत्तियों का विशेष हाथ है। शिशु जन्म से तो पर वश करना नहीं जानता। अतः माता-पिता को शिशु से किसी ऐसे कार्य की शा न करनी चाहिये, जो उसकी प्रवृत्ति के प्रतिकूल हो। शिशु यदि किसी कारण भीत हो रहा हो, तो क्या माता-पिता उसे भागने की चेष्टा से रोकने में सफल हो ते हैं ? किसी नवीन वस्तु को देखकर उसका आश्चर्य चकित हो जाना और आश्चर्य कारण उसमें जिज्ञासा उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। जिज्ञासु शिशु अपने तूहल को शान्त करने के लिये माता-पिता पर प्रश्नों की झड़ी लगा देता है। पर ता-पिता यदि उसके कौतूहल को शान्त करने की अपेक्षा उसे सिर खाने के अपराध दण्ड दें अथवा बुरा-भला कहें, तो क्या इसका प्रभाव उसके चरित्र पर दूषित नहीं ोगा ?

माता-पिता को यह समझ लेना चाहिए कि मूल-प्रवृत्तियों का दमन (Repre-sion) सर्वथा हानिकारक है। डॉक्टर सरयूप्रसाद के अनुसार ऐसा करना घाटी स्वाभाविक जल-प्रवाह पर बाँध बाँधने के समान है। इस बाँध से जल-प्रवाह पर प्रकार से प्रभाव पड़ सकता है। पहली सम्भावना तो यह है कि बाँध के पास जल ट्ठा होता जायगा। यदि बाँध कमजोर हुआ, तो जल उसे छिन्न-भिन्न कर आगे कल जायगा। बाँध बाँधने का कोई विशेष लाभ न होगा, अपितु हानि यह होगी कि का वेग पहले से काफी अधिक हो जायगा। मूल-प्रवृत्तियों के दमन का भी प्रथम

प्रभाव यह होता है कि बालक सभी नियन्त्रणों को तोड़ देता है और उसकी मूल-प्रवृत्तियाँ उग्र रूप धारण कर लेती हैं। जल-प्रवाह पर बाँध बाँधने से दूसरी सम्भावना यह है कि यदि बाँध काफी दृढ़ हुआ, तो पानी का वेग तो रुक जायगा, पर उसके आगे की भूमि सूखकर बंजर हो जायगी। मूल-प्रवृत्तियों के दमन से मन में भावना-ग्रन्थियाँ (Complexes) बन जाती हैं। व्यक्ति में अन्तर्द्वन्द्व आ जाता और उसका चारित्रिक विकास रुक जाता है।

बालक को यदि मूल-प्रवृत्तियों का दास बना रहने दें, तो वह पशु की भाँति हो जाता है, वह चरित्रवान् नहीं बन पाता। संग्रह की अनियन्त्रित मूल-प्रवृत्ति व्यक्ति को लोभी, स्वार्थी और चोर भी बना सकती है। क्रोध, लड़ने का संवेग और प्रवृत्ति व्यक्ति का बहुत अहित कर सकते हैं। बालक को चरित्रवान् बनाने के लिए मूल-प्रवृत्तियों का शोधन करना पड़ता है। विद्वानों ने इस सम्बन्ध में कई उपाय बताये हैं, जिनमें से कुछ यहाँ दिये जा रहे हैं—

(क) विलयन (Inhibition):—

इस उपाय के द्वारा हम ऐसा प्रबन्ध करते हैं कि जिस मूल-प्रवृत्ति पर हम नियन्त्रण स्थापित करना चाहें, उसे हम जाग्रत् ही न होने दें। शिशु में लड़ने की प्रवृत्ति का विलयन करने का यह उपाय है कि हम उससे कोई भी ऐसी बात न कहें, जो उसमें क्रोध का संवेग उत्पन्न करे।

मूल-प्रवृत्तियों का विलयन एक साथ दो विरोधी प्रवृत्तियों को जाग्रत करके भी किया जा सकता है। संग्रह-प्रवृत्ति त्याग-भावना से, कामवृत्ति क्रोध या भय अथवा घृणा से शान्त की जा सकती है, परन्तु यह रीति पूर्णतः अवैज्ञानिक है।

(ख) मार्गान्तरीकरण (Redirection):—

इस रीति से हम मूल-प्रवृत्ति का मार्ग बदल देते हैं। लड़ने की प्रवृत्ति को यदि निर्बलों के शोषण और अत्याचार से बचाने की ओर प्रवृत्त किया जाए, तो व्यक्ति और समाज दोनों का हित होता है। ऊपर बताये गये उपाय से यह उपाय अधिक श्रेष्ठ है।

(ग) शोधन (Sublimation):—

यह विधि मार्गान्तरीकरण से मिलती-जुलती है। लड़ने की प्रवृत्ति को अब तथा शान्ति की रक्षा के हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है। कामवृत्ति का शोधन व्यक्ति का ध्यान कला अथवा कविता में केन्द्रित करके किया जा सकता है।

अतः शिशु के चरित्र को उन्नत करने के लिए माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे उसकी अच्छी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दें और बुरी प्रवृत्तियों का दमन करने की अपेक्षा उनका मार्गान्तरीकरण और शोधन करने का प्रयत्न करें।

२. संवेग (Emotions)

चरित्र की नींव मूल-प्रवृत्तियाँ हैं, पर कोई भी मूल-प्रवृत्ति तब तक उत्तेजित नहीं हो सकती, जब तक उससे सम्बन्धित कोई संवेग उपस्थित न हो। संवेग, जैसा पहले बताया जा चुका है, हमारे मन की वे दशायें हैं, जिनसे हम द्रवीभूत होते हैं। व्यक्ति के चरित्र पर उसके संवेगों का बहुत प्रभाव पड़ता है। अतः संवेगों के विकास के विषय में जानना भी अत्यावश्यक है।

जीवन के आरम्भ से ही शिशु रोकर तथा चिल्लाकर यह प्रगट कर देता है कि वह बहुत भावुक है। फिर यह पता करना बहुत कठिन होता है कि वह कौन से संवेग से प्रेरित है। जैसे जैसे वह बड़ा होता जाता है, उसके संवेग भी पहचाने जाने लगते हैं। एक मास का शिशु मनुष्य को देखकर प्रसन्न होकर मुस्कराता है। शेमन ने अपने प्रयोग में यह पता लगाया था कि चार मास का शिशु भूख, क्रोध तथा पीड़ा होने पर भिन्न-भिन्न प्रकार से चिल्लाता है। एक वर्ष के शिशु के व्यवहार से उसका प्रेम, भय, प्रसन्नता स्पष्ट झलकते हैं। तीन वर्ष का शिशु अपने संवेगों को शब्दों में व्यक्त करने लगता है। जब कि सात वर्ष का बालक इनको छिपाना भी सीख जाता है।

संवेगों की उत्पत्ति मन की स्थिति और अवसर पर निर्भर करती है। वर्षा होने पर एक शिशु प्रसन्न हो सकता है, जब कि दूसरा जिसे वर्षा में स्नान करने से रोक दिया गया हो, दुखी हो सकता है। यहाँ हम कुछ संवेगों के विषय में बताना आवश्यक समझते हैं।

(क) क्रोध (Anger):—

कार्य-सिद्धि में विघ्न पड़ने से क्रोध का संवेग उत्पन्न होता है। दुर्बल, थका हुआ, निद्राविहीन और भूखा मनुष्य दूसरों की अपेक्षा अधिक क्रुद्ध होता है। आरम्भ में शिशु के भूखे होने पर यदि माता उसे भोजन नहीं देती, तो वह क्रुद्ध हो जाता है। दो वर्ष का शिशु मान-अपमान का अन्तर समझने लगता है और अपमानित होने पर उसके क्रोध का पारावार ही नहीं रहता। घर के विभिन्न व्यक्ति यदि शिशु से भिन्न-भिन्न बातें करने को कहें जो कि एक दूसरे के विपरीत हों, तो शिशु को क्रोध आना स्वाभाविक है। अवाञ्छनीय विघ्नबाधा सभी को क्रुद्ध कर देता है, शिशु का तो कहना ही क्या। एक ही चोट की अपेक्षा जब किसी व्यक्ति के तन पर कई चोटें होती हैं, तो क्रोध का वेग तीव्र हो जाता है। चलते-चलते यदि शिशु को ठेस लग जाय, तो उसे पीड़ा होती है और सड़क पर ईंट फेंकनेवालों पर क्रोध आता है, पर यदि उसी समय कोई उसे यह कह दे कि "देखकर क्यों नहीं चलते" तो उसके क्रोध की कोई सीमा नहीं रहती। वह चाहता है कि ऐसा कहनेवाले से वह लड़ पड़े और अपना सारा क्रोध उसी पर निकाल दे।

(ख) ईर्ष्या (Jealousy):—

पांच वर्ष से कम आयु के शिशु में ईर्ष्या ही सबसे प्रबल भावना है। वह जब यह अनुभव करने लगता है कि माता पिता अपने दूसरे बच्चों से अधिक प्रेम करते हैं, तो उसका मन ईर्ष्या से भर जाता है। छोटे भाई अथवा बहन के जन्म से तो उसकी ईर्ष्या का कोई पारावार ही नहीं रहता। वह देखता है कि छोटा मा के पास सोता है, उसी का दूध पीता है या प्याले की अपेक्षा बोतल में दूध पीता है, लोग उसे उपहार देते हैं, माता-पिता अधिकतर उसी के सम्बन्ध में वार्तालाप करते हैं। ऐसा होने पर उसे अपने के उपेक्षित (neglected) समझना स्वाभाविक है। वह भी मा के पास सोना चाहता है, मा का दूध पीना चाहता है, प्याले की जगह बोतल चाहता है, माता-पिता की वार्तालाप का विषय बनना चाहता है पर ऐसा होता नहीं। अतः वह छोटे से ईर्ष्या करने लगता है।

बच्चे अपनी ईर्ष्या कई प्रकार से प्रकट करते हैं। नम्र बच्चे माता-पिता से पूछते हैं, "बेबी अपने घर कब जायगा" जब कि उग्र छोटे को मारने भी लगते हैं। मध्य प्रकार के बच्चे गुम-सुम और उदास रहने लगते हैं और उनके व्यवहार में दार्शनिकता (Philosophy) और निराशावादिता (Pessimism) आ जाती है। सभी ईर्ष्यालु बच्चे चिड़चिड़े हो जाते हैं और हर समय रोते रहते हैं।

माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे शिशु में ईर्ष्या की भावना उत्पन्न न होने दें। देखा गया है कि जब शिशु छोटे को मारकर अपनी ईर्ष्या को प्रकट करता है, तो माता-पिता उसे मारने या बुरा-भला कहने और छोटे को प्यार करने लगते हैं। इससे उसकी ईर्ष्या मे वृद्धि होती है। ईर्ष्या को दूर करने का केवल एक ही उपाय है कि शिशु को यह विश्वास दिला दिया जाय कि माता-पिता अब भी उसे पहले-जितना प्रेम करते हैं।

(ग) भय (Fear):—

बहुत छोटे शिशु अधिक रोशनी तथा शोर से भय खाते हैं। आयु की वृद्धि के साथ भयोत्पादक वस्तुओं की संख्या भी बढ़ती जाती है। ६ मास का शिशु किसी अपरिचित को देखकर भयभीत हो जाता है। माता-पिता को यदि किसी कारण-वश बाहर जाना पड़े, तो दो वर्ष का शिशु यह सोचने लगता है कि वह अवश्य ही उसके किसी व्यवहार से क्रुद्ध होकर उसे छोड़कर चले गये हैं। इससे उसके भय का कोई ठिकाना नहीं रहता। ढाई वर्ष का शिशु अन्धकार, कुत्ते, इन्जन, कीड़े-मकोड़े तथा सांप आदि से डरता है। तीन वर्ष की आयु में उसकी कल्पना-शक्ति बहुत तीव्र हो जाती है और वह बहुत-सी कल्पित वस्तुओं से भी भय खाने लगता है। इसी आयु में वह मृत्यु से भी डरने लगता है। साढ़े तीन वर्ष की आयु के निकट शिशु में झांकने की प्रवृत्ति (Peeping Instinct) होती है। अपने विपरीत लिंग के शिशु को देखकर वह अपने लिंग के विषय मे चिन्तित तथा भयभीत हो जाता है।

माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे शिशु के भय को कम करने का प्रयत्न करें, अन्यथा शिशु के डरपोक हो जाने की सम्भावना होती है। डरे हुये शिशु की हँसी उड़ाना भी कम हानिकारक नहीं। शिशु को कभी भी बिल्ली, कुत्ते, पुलिस, भूत, चोर आदि का भय नहीं दिखाना चाहिये।

(घ) प्रसन्नता (Happiness):—

इच्छा अथवा कार्य की पूर्ति से प्रसन्नता उत्पन्न होती है। जीवन के प्रारम्भिक दिनों में शिशु भूख और प्यास के शान्त होने पर प्रसन्न होता है। एक वर्ष का शिशु खिलौने प्राप्त करके प्रफुल्लित हो जाता है। माता-पिता का प्रेम शिशु के लिये बहुत ही आनन्ददायक होता है। प्रसन्नता सभी को हर्षित करती है, पर बालक अपनी प्रसन्नता कूदकर विशेष रूप से प्रकट करता है।

प्रसन्नता चरित्र को उन्नत और व्यक्ति को आशावादी (Optimist) बनाती है। अतः माता-पिता को चाहिये कि वे शिशु को सदा प्रसन्न रखें। शिशु यदि किसी कार्य में असफल हो, तो भी उसे प्रोत्साहन दें।

(ङ) प्रेम (Affection):—

जीवन के पहले कुछ मासों में ही शिशु का प्रेम प्रकट होने लगता है। आरम्भ में शिशु अपनी प्रिय वस्तुओं का आलिंगन करता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जीवन के पहले तीन वर्ष वह अपने आप को ही संसार की सबसे प्रिय वस्तु समझता है। इस दशा को उन्होंने नर्गिस्म (Narcism) का नाम दिया है। नर्सिसस नाम का एक लड़का पानी में अपनी परछाईं देखकर स्वयं अपने ऊपर मोहित हो गया था। तीन से ६ वर्ष की आयु में शिशु अपने माता-पिता को संसार में सबसे अधिक चाहता है। फ्रायड के अनुसार इस आयु में अधिक प्रेम विपरीत लिंग के अभिभावक (Guardian) से होता है। इस प्रकार बालक अपनी माता से और बालिका अपने पिता से अधिक प्रेम करती है। ६ से १२ वर्ष की आयु (बाल्यकाल) में बालक का प्रेम अपने ही लिंग के सहपाठी साथियों की ओर आकर्षित हो जाता है, जब कि किशोरावस्था (१२ से १८ वर्ष) में प्रेम का आकर्षण अपने से विपरीत लिंग की ओर अत्यधिक होता है।

३. स्थायी भाव (Sentiments)

जब किसी विशेष पदार्थ के आधार पर एक ही प्रकार का संवेग बारम्बार उत्पन्न होता है, तो उस पदार्थ के प्रति हमारे मन में एक स्थायी भाव उत्पन्न हो जाता है। यदि किसी वस्तु को हम कई बार देखें और हर बार उसे देखकर हमारे हृदय में उसके प्रति घृणा का संवेग उत्पन्न हो, तो उस वस्तु के प्रति हमारे मन में स्थायी रूप से घृणा

उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार स्थायी भाव सवेग-जनित वे मानसिक भाव हैं, जो किसी वस्तु, कार्य अथवा व्यक्ति के प्रति स्थायी रूप में हो जाते हैं। वातावरण के संपर्क से हमारी मानसिक प्रवृत्तियों में कुछ स्थायी परिवर्तन आ जाते हैं। यही परिवर्तन स्थायी भाव है। शंड (Shand) के अनुसार "किसी वस्तु में केन्द्रित सुसगठित सवेगात्मक प्रवृत्तियाँ" स्थायी भाव कहलाती हैं। स्थायी भाव हमारी वे अर्जित प्रवृत्तियाँ हैं, जो किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदि के विषय में हमारे व्यवहारों को प्रभावित करती हैं।

स्थायी भाव अनुभव का फल होते हैं। ड्रेवर (Drever) के अनुसार ये प्रत्यक्षात्मक स्तर (Perceptual Level) पर नहीं बनते, अपितु विचारात्मक स्तर (Ideational Level) पर बनते हैं। वस्तु को केवल देखकर ही स्थायी भाव नहीं बन जाते। इनके निर्माण में तो वस्तु के प्रति हमारे विचारों का विशेष हाथ होता है। 'शं' के अनुसार स्थायी भाव शब्द का प्रयोग व्यक्ति की सम्पूर्ण भावनाओं और सवेगों को प्रकट करने के लिये किया जाता है। इनकी उत्पत्ति वस्तु के प्रति हमारे सवेगों से होती है।

माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे स्वच्छता, ईमानदारी, देश-भक्ति आत्म-गौरव, सत्य आदि नैतिक गुणों के प्रति शिशुओं में स्थायी भाव उत्पन्न करें।

४. भावना-ग्रन्थियाँ (Complexes)

मूल-प्रवृत्तियों के शोधन का परिणाम स्थायी भाव होता है, पर उनके दमन [illegible] परिणामस्वरूप बनती हैं भावना-ग्रन्थियाँ। भावना-ग्रन्थियों को हम विकृत स्थायी भा[illegible] भी कह सकते हैं। भावना-ग्रन्थियाँ व्यक्ति के चरित्र और व्यवहार पर बहुत प्रभा[illegible] डालती हैं। जब कभी हमारी किसी मूल-प्रवृत्ति का दमन होता है, तो हमारे मन में [illegible] पड़ जाती है। यही गाँठ भावना-ग्रन्थि कहलाती है। ये भावना-ग्रन्थि[illegible] हमारे अचेतन मन में सदा क्रियाशील रहती हैं। हमारे चेतन मन को इसका ज्ञान नहीं होता। फ्रायड के अनुसार हमारे मन का आठवाँ भाग ऊपर रहता है, शेष [illegible] भाग [illegible] अचेतन में रहता है। मन का यह [illegible] भाग अचेतन मन कहलाता है। [illegible] यह नहीं कि वह कुछ काम ही नहीं करता। वह काम तो हर समय करता रहता है, पर हम उस कार्य का ज्ञान नहीं होता। हमारी भावना-ग्रन्थियाँ इसी अचेतन मन में रहती हैं और वह हमारे व्यवहार पर बहुत प्रभाव डालती हैं, पर हमें इसका [illegible] नहीं चलता। [illegible]

(क) आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि (Inferiority Complex)—

जब किसी व्यक्ति को बार-बार असफलता मिलती है, तो वह स्वयं अपनी आँखों से गिर जाता है। वह अपने आपको घटिया समझने लगता है। ऐसे व्यक्ति बहुत निराशावादी होते हैं और उनमें साहस की कमी होती है। जिन व्यक्तियों को बचपन में माता-पिता बात-बात पर डाटते हैं, असफल होने पर लज्जित करते हैं, उनके मन में आत्महीनता की ग्रन्थि पड़ जाती है। इससे उनके चरित्र पर बहुत दूषित प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

(ख) आत्म-गौरव की भावना-ग्रन्थि (Superiority Complex)—

इसके विपरीत जिन शिशुओं को आवश्यकता से अधिक लाड़-प्यार मिलता है, जिन शिशुओं की अनुचित जिद के सामने माता-पिता झुक जाते हैं, वे अपने को आवश्यकता से अधिक समर्थ समझने लगते हैं। ऐसा होना भी चरित्र की कमजोरी है।

(ग) काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि (Sex Complex)—

अपने विपरीत लिंग के शिशु को देखकर शिशु में लिंग सम्बन्धी भय उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिये वह माता-पिता से लिंग के विषय में कुछ प्रश्न पूछने लगता है। अक्सर माता-पिता उसे डाट-डपट देते हैं। उनका यह प्रयत्न होता है कि शिशु को यह बताया जाय कि लिंग सम्बन्धी बातें करना अनैतिक है। अतः इस सम्बन्ध में उनके हृदय में पाप की भावना (Sense of guilt) उत्पन्न हो जाती है।

किशोरावस्था में व्यक्ति अपने विपरीत लिंग में रुचि रखता है। पर वह लिंग के विषय को ही पाप और शर्म का विषय समझता है। इस प्रकार वह अपने पर नियन्त्रण लगाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार लिंग के विषय में उसके हृदय में एक विकृत स्थायी भाव या भावना-ग्रन्थि पड़ जाती है।

माता-पिता का यह परम कर्तव्य है कि वे शिशु के हृदय में भावना-ग्रन्थियाँ उत्पन्न न होने दें। क्योंकि भावना-ग्रन्थियों की तीव्रता या बहुलता व्यक्ति को पागल तक कर सकती है। फ्रायड ने भावना-ग्रन्थियों को खोलने के लिये मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) की रीति खोजी है। अतः यदि किसी व्यक्ति में भावना-ग्रन्थियाँ हों, तो उसकी चिकित्सा किसी मनोविश्लेषक से कराई जा सकती है।

५. नैतिक सिद्धान्त (Moral Concept)

स्थायी भावों के बनने के परिणाम-स्वरूप व्यक्ति के कुछ आदर्श अथवा नैतिक सिद्धांत बन जाते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के पुञ्ज का नाम ही चरित्र है। शिशु के नैतिक सिद्धान्तों पर उसके पिता-माता के नैतिक विचारों का बहुत प्रभाव पड़ता है। जिन कार्यों को माता-

पिता बुरा समझते हैं, शिशु के मन में भी उनके प्रति ऐसा स्थायी भाव उत्पन्न हो जाता है कि वह भी उन्हें बुरा समझने लगता है। अतः शिशुओं को चरित्रवान् बनाने के लिये माता-पिता को चाहिये कि वह स्वयं अनैतिक कार्यों से दूर रहें और नैतिक बनें। शिशु को छोटी छोटी नैतिक कथायें सुनाकर उनके मन में, नीति में अनुराग उत्पन्न किया जा सकता है।

६. संकल्प-शक्ति (Will Power)

नैतिक सिद्धान्त बन जाने पर भी उनको निरन्तर पुष्ट करते रहने की आवश्यकता होती है। लोभ अथवा स्वार्थ कभी-कभी व्यक्ति को अपने नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल कार्य करने के लिये विवश करने का प्रयत्न करता है। पर चरित्रवान् व्यक्ति लोभ अथवा स्वार्थ के फन्दे में नहीं फँसता। वह अपने सिद्धान्तों तथा आदर्शों को दृढ़ रखने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की गई नैतिक सिद्धान्तों की पुष्टि संकल्प-शक्ति अथवा इच्छा-शक्ति कहलाती है। संकल्प-शक्ति मनुष्य की निर्णय करने की शक्ति है। डम्बविल के अनुसार यह क्रियात्मक मनोवृत्ति है। व्यक्ति में अनेक इच्छायें होती हैं और कभी-कभी इन इच्छाओं में संघर्ष हो जाता है। ऐसी दशा में अन्तर्द्वन्द्व का निर्णय करना ही संकल्प-शक्ति कहलाती है। संकल्प-शक्ति संयम का परिणाम होती है। चरित्र को उन्नत करने के लिये संकल्प शक्ति की नितान्त आवश्यकता है। माता-पिता का कर्तव्य है कि वह शिशु मे संकल्प-शक्ति उत्पन्न करने का प्रयास करें।

७. चरित्र पर प्रभाव डालनेवाली अन्य बातें

(क) निर्देश (Suggestion)—

निर्देश के द्वारा शिशु का चरित्र उन्नत किया जा सकता है। अच्छी बातों के लिये प्रोत्साहन देकर उसे महान् बनाया जा सकता है। इसके विपरीत यदि उसे हतोत्साहित किया जाय, तो वह पतन की ओर अग्रसर होता है। माता-पिता को यह चाहिये कि वह शिशु को बतायें कि कौन-सी बात अच्छी है। निर्देश देते समय माता-पिता को यह ध्यान रखना चाहिये कि वह उसे कोई भी ऐसा निर्देश न दें, जो नकारात्मक (Negative) हो। "झूठ न बोलो" कहने के स्थान पर यह कहना कि "सदा सत्य बोलो" अधिक उत्तम है। नकारात्मक निर्देशों से शिशु में बात-बात पर 'न' कर देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

(ख) अनुकरण (Imitation)—

शिशु मे माता-पिता के व्यवहार का अनुकरण करने की प्रवृत्ति बड़ी तीव्र होती

है। जिस कार्य को वे जिस रीति से करते हैं, वह भी उस कार्यों को उसी रीति से करने का प्रयास करता है। अतः माता-पिता को उसके सामने सदा सतर्क रहना चाहिये। शिशु जब कोई त्रुटि करे, तो माता-पिता को यह समझ लेना चाहिये कि ऐसा उन्हीं के अनुकरण के फलस्वरूप हुआ है। बालकों का चरित्र सुधारने का प्रयास करने से पहले उन्हें स्वयं अपने आचरण को ठीक करना चाहिये।

(ग) लाड़-प्यार (Love and Affection):—

बच्चे प्रेम के भूखे होते हैं। मां-बाप जिन बच्चों की इस भूख को सन्तुष्ट रखते हैं, वे चरित्रवान् बन सकते हैं। इसके विपरीत यदि उनकी यह भूख मां-बाप द्वारा सन्तुष्ट नहीं की जाती, तो वे दूसरे लोगों से संबंध स्थापित करते हैं। इन लोगों में से कुछ चरित्र-हीन भी हो सकते हैं। उनके सम्पर्क से बालक का चरित्र भी भ्रष्ट हो सकता है। शिशु को चरित्रवान् बनाने के लिये माता-पिता को चाहिये कि वे बालक को स्नेह से सिक्त रखें, ताकि उसमें यह भावना न आवे कि उसे प्रेम से वंचित रखा जा रहा है।

(घ) दण्ड और पुरस्कार (Punishment and Prize):—

सब लोगों के अनुसार दण्ड यदि चरित्र पर प्रभाव डाल सकता है, तो केवल यह कि वह गलत कार्यों को करने से रोक सके। पर वह उचित-अनुचित की भावना उत्पन्न नहीं कर सकता। बालक को चरित्रवान् बनाने के लिये उसके नैतिक स्तर को उन्नत करके उचित-अनुचित का ज्ञान उत्पन्न करना आवश्यक है। दण्ड के भय से वह किसी कार्य को करने से हिचकेगा तो अवश्य, पर भविष्य में जब दण्ड का भय दूर हो जायगा, तो वह उसी कार्य को दुगने वेग से करेगा। इसी प्रकार पुरस्कार किसी उचित कार्य को करने के लिये प्रोत्साहन तो दे सकता है, पर वह नैतिक भावना उत्पन्न नहीं कर सकता। भविष्य में पुरस्कार का अभाव व्यक्ति को अनुचित कार्यों की ओर भी ले जा सकता है। अतः चरित्र को उन्नत करने के लिये बालक में उचित-अनुचित का ज्ञान उत्पन्न करना परमावश्यक है। बार-बार दण्ड पाने से बालक के मन में आत्महीनता की भावना-ग्रंथि पड़ जाती है, जिससे वह अपने आपको अयोग्य और हेय समझने लगता है और उसका मानसिक विकास रुक जाता है। हां, कभी-कभी बालक को सुधारने के लिये दण्ड और पुरस्कार देना आवश्यक हो जाता है, पर इसका प्रयोग कम ही किया जाय तो अच्छा है।

८. व्यवहार (Behaviour)

किसी व्यक्ति के चरित्र के विषय में जानने के लिये उसके व्यवहार का परीक्षण करना चाहिये। व्यवहार-रूपी थर्मामीटर से हम चरित्र-रूपी दूध को जांच सकते हैं।

अशुद्धता को माप सकते हैं। व्यक्ति का व्यवहार दो प्रकार का होता है—(क) व्यक्तिगत व्यवहार तथा (ख) सामाजिक व्यवहार।

(क) व्यक्तिगत व्यवहार:—

नवजात शिशु कई प्रकार का व्यवहार करता है। उसके व्यवहार पर उन दशाओं का मुख्य प्रभाव पड़ता है, जिनमें वह गर्भावस्था में रहा हो। स्वस्थ नवजात शिशु बाजू तथा टाँगें हिला सकता है और माता का स्तन पान कर सकता है।

दो वर्ष की आयु तक शिशु माता-पिता की आज्ञाओं को सहर्ष मानता है। लगभग इसी आयु में एक ऐसी अवस्था आती है, जब वह बात-बात पर 'न' करने लगता है। दो से तीन वर्ष की आयु को विद्वानों ने इन्कार की आयु (Negative Age) का नाम दिया है। अक्सर माता-पिता शिशु के व्यवहार मे उत्पन्न इस परिवर्तन को समझने में असमर्थ होते हैं।

तीन से पाँच वर्ष की आयु में शिशु अपने व्यवहार से कभी-कभी ईर्ष्या प्रकट करता है। इसके विषय मे हम पहले सविस्तार बता चुके हैं। यही वह आयु है, जिसमे शिशु मे निस्वार्थपरता, सत्य भाषण, आज्ञा-पालन आदि अच्छे गुण लाये जा सकते हैं।

(ख) सामाजिक व्यवहार:—

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामूहिकता अथवा सामाजिकता उसकी जन्म-जात प्रवृत्ति है। समाज में कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह वह जन्म से ही सीखता है। ६ मास का शिशु अपने प्रिय व्यक्ति को देखकर मुस्कराता है। वह इसी आयु में दूसरे शिशुओं को देखने तो लगता है, पर दो वर्ष की आयु तक वह उनसे सहयोग नहीं कर पाता। दो वर्ष की आयु के उपरान्त प्रति वर्ष उनको दूसरे शिशुओं अथवा व्यक्तियों के साथ व्यतीत होने के समय की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। कुछ शर्मीले अथवा निराशावादी शिशु दूसरों से हिलने-मिलने से झिझकते हैं, पर अधिकांश शिशु सामाजिक होते हैं।

शिशु के सामाजिक व्यवहार पर संस्कृति, आर्थिक स्तर तथा रीति-रिवाजों का बहुत प्रभाव पड़ता है। गरीब तथा रूढ़िवादी परिवारों के बालक अधिक लोगों के सम्पर्क में आने से घबराते हैं, जबकि धनी और प्रगतिशील परिवारों के बालकों का सामाजिक क्षेत्र विस्तृत होता है। बालक के सामाजिक व्यवहार पर उसके माता-पिता के व्यवहार का बहुत प्रभाव पड़ता है। जो माता-पिता अधिक लोगों के सम्पर्क में नहीं आते, उनके बच्चों का सामाजिक क्षेत्र भी सीमित होता है।

मनुष्य की बहुत-सी सामाजिक प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिनमे से कुछ पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

सहानुभूति (Sympathy) :—

समाज के कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि उसके सदस्य एक दूसरे के सुख-में साथ दें। शिशु में भी सहानुभूति की भावना बहुत होती है। शिशु जब किसी शिशु को रोता देखता है, तो वह भी रोने लगता है। शिशु तथा वयस्क की हम-मे यह अन्तर है कि अधिकांश वयस्क अपनों ही के दुःख-सुख से प्रभावित होते हैं। कि शिशु किसी के भी दुःख-सुख से प्रभावित होता है। वह हमारे ही अनुकरण से सीखता है कि दूसरों के सुख-दुःख में साझीदार बनने का कोई लाभ नहीं, यदि वह सीखता है तो। अतः हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम निःस्वार्थ भाव से दों से सहानुभूति करें, ताकि हमारे अनुकरण से शिशु भी अपना चरित्र उन्नत सकें।

) मित्रता (Friendship):—

शिशु जब सक्रिय सामाजिक सम्बन्ध बनाने की आयु में आता है, तो साधारणतया की मित्रता कुछ विशिष्ट शिशुओं से हो जाती है। दो वर्ष की आयु के उपरान्त सर [illegible] शिशुओं में परस्पर मैत्री के ऐसे सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते हैं, जो महीनों, अथवा आयुपर्यन्त रहते हैं। सामान्यतः मित्र कद, वजन, बुद्धि, ईमानदारी, स्कूल-में उन्नति आदि में समान होते हैं और यह समानतायें ही मित्रता का कारण होती भले ही शिशु को इसका ज्ञान न हो।

) स्पर्धा (Competition):—

शिशु को सामान्यतः पहला प्रतिद्वन्द्वी घर में ही मिलता है और वह उनसे ईर्ष्या ने लगता है। इसके उपरान्त जब असबंधी शिशु एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तो कद, शक्ति, मान, कार्य आदि के विषय में एक दूसरे से स्पर्धा करने लगते हैं। नति के लिये स्पर्धा बहुत उत्तम है, क्योंकि स्पर्धा उन्नति करने को प्रोत्साहित करती पर इसकी अधिकता भी कम हानिकारक नहीं, यह शिशुओं में एक दूसरे के प्रति र्या, घृणा और द्वेष उत्पन्न कर सकती है।

) नेतृत्व (Leadership):—

शिशु जब एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तो कुछ शिशु जिनमें नेतृत्व की भावना ती है, दूसरों पर अपनी हुकूमत लाद देते हैं। वे दूसरों को आदेश देकर कि वे कहाँ ड़े रहें, कौन-सा कार्य करें, कौन-सा न करें, अपना नेतृत्व प्रकट करते हैं।

अन्त में हम यही कहेंगे कि शिशु को अपने तरीके से सामाजिक सम्बन्ध बना ने देने चाहिये। शिशु उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नहीं करता। हस्तक्षेप उसके मानसिक विकास पर बोझ पड़ता है। हाँ, यदि बालक की संगत बुरे लोगों के थ हो रही हो, तो उसे अच्छे साथी खोज देने चाहिये।

बाल-विकास

(व्यक्तित्व सम्बन्धी)

[Development of the child (Personality)]

यद्यपि हम प्रत्येक दिन "व्यक्तित्व" शब्द का प्रयोग करते हैं, फिर भी इसकी परिभाषा करना बड़ा कठिन है। व्यक्तित्व व्यक्ति की भाववाचक संज्ञा है और यह व्यक्ति का शरीर, बुद्धि, चरित्र सबका बोधक है, पर जिस प्रकार कविता शब्दों का समूह-मात्र नहीं, जिस प्रकार चित्र केवल रंगों का सम्मिश्रण नहीं, उसी प्रकार व्यक्तित्व व्यक्ति के शरीर, बुद्धि, चरित्र, व्यवहार आदि का योग नहीं, यह इन सबसे भिन्न है। व्यक्तित्व को व्यक्ति से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह तो उसकी आत्मा है। यह व्यक्ति के संवेग, संवेदना, कल्पना, अनुभव, स्मृति, विवेक और बुद्धि आदि का सम्मिश्रण होते हुये इनसे पृथक् है।

१. व्यक्तित्व के अंग (Factors of Personality)

मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व के तीन अंग माने हैं—(क) शारीरिक गुण (Physical Trait), (ख) मानसिक गुण (Mental Trait) और (ग) सामाजिक गुण (Social Trait)।

(क) शारीरिक गुण:—

व्यक्ति का शारीरिक विकास उसके व्यक्तित्व पर बहुत प्रभाव डालता है। छोटे डील-डौलवाले व्यक्ति का व्यक्तित्व बड़े कदवाले व्यक्ति के सामने कुछ घटिया अवश्य लगता है। इसी प्रकार जिसके शरीर में कोई विकार होता है, जैसे लँगड़ा, काना, उसका व्यक्तित्व कुछ फीका अवश्य होता है। इसके विपरीत स्वस्थ शरीर के व्यक्ति के व्यक्तित्व में जान होती है।

(ख) मानसिक गुण:—

मनोवैज्ञानिकों ने मन को तीन भागों में विभाजित किया है—ज्ञान (Knowing), इच्छा (Feeling) तथा क्रिया (Willing)। इस प्रकार किसी व्यक्ति का [illegible] ज्ञान, इच्छा और क्रिया से प्रकट होता है। ज्ञान का रूप हमारी बुद्धि [illegible]) है। इच्छायें तीव्र होकर संवेगों (Emotions) का रूप धारण करती हैं। संवेगों से स्थायी भाव (Sentiments) और उनसे व्यक्ति का स्वभाव

(ग) अस्थिर स्वभाव के व्यक्तियों के चरित्र में संकल्प-शक्ति की कमी होती है। ये अन्तर्द्वन्द्व की दशा में यह निर्णय ही नहीं कर पाते कि कौन-सा मार्ग अपनाना उनके हित में है, कौन-सा मार्ग उचित है। वे एक साथ दो नौकाओं पर सवार रहते हैं। जिन व्यक्तियों को शैशव में उचित नैतिक दीक्षा नहीं मिलती, वे ही बड़े होकर अस्थिर व्यक्तित्व के स्वामी होते हैं।

(घ) ईर्ष्यालु शिशु चिड़चिड़े हो जाते हैं और अक्सर उनका यह चिड़चिड़ापन जीवन-पर्यन्त रहता है। जिन शिशुओं को असफल अथवा भयभीत होने पर माता-पिता या अन्य लोग चिढ़ाते हैं, उनका व्यक्तित्व भी चिड़चिड़ा हो जाता है। चिड़चिड़े स्वभाव के व्यक्ति बात-बात पर क्रुद्ध हो जाते हैं, जिससे उनके शरीर तथा मन को बहुत क्लेश पहुँचता है।

सामाजिक गुणों की दृष्टि से दो प्रकार का व्यक्तित्व माना गया है—

(क) अन्तर्मुखी व्यक्तित्व (Interovert Personality)

(ख) बहिर्मुखी ,, (Exterovert ,,)

(क) अन्तर्मुखी व्यक्ति अपने में ही मस्त रहते हैं। बाहरी वस्तुओं और लोगों में उनकी रुचि कम होती है। वे हँसी मजाक तथा गपबाजी से दूर भागते हैं और एकान्त-प्रिय होते हैं। सामान्यतः मेलों, जुलूसों सभा-सोसाइटियों से बचना चाहते हैं। यदि उन्हें कभी किसी सभा में जाना पड़े, तो वे पीछे छिपकर बैठने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोग हर नया काम करने से घबड़ाते हैं और सामान्यतः हर काम से जान छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं। वे दूसरों की प्रसन्नता-अप्रसन्नता की चिन्ता नहीं करते और यह सोचे बिना कि "दूसरे क्या कहेंगे" अपना काम किये जाते हैं।

जिन शिशुओं को माता-पिता जिद करने के अपराध में दण्ड या फटकार दिया करते हैं या जो निराशावादी होते हैं, वे बड़े होकर अन्तर्मुखी हो जाते हैं। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—विचार-प्रधान और भाव-प्रधान। विचार-प्रधान (Thoughtful) अन्तर्मुखी व्यक्ति सामान्यतः जगत के मिथ्या होने पर चिन्तन करते रहते हैं। उन्हें यह दुःख सताता रहता है भगवान के बनाये इस सुन्दर संसार को मोह मनुष्य पतन की ओर ले जा रहा है। दार्शनिक (Philosopher) लोगों का व्यक्तित्व विचार-प्रधान अन्तर्मुखी होता है। इसके विपरीत भाव-प्रधान (Feelingful) अन्तर्मुखी व्यक्तियों के हृदय में सदा वेदना और दुःख विराज-मान रहता है। वे उसी वेदना का आनन्द लेते रहते हैं। कवि लोगों की गिनती इन्हीं में की जा सकती है।

(ख) इसके विपरीत बहिर्मुखी व्यक्ति का स्वभाव सांसारिक बातों में अनुरक्त

रहने का होता है। वे अपनी अपेक्षा दूसरों की बातों की अधिक चर्चा करते हैं। अपने मन के भावों को छिपाकर दूसरों को प्रसन्न रखने का प्रयास करते हैं। वे सदा यह चिन्ता करते रहते हैं कि 'दूसरे क्या सोचेंगे'। वे दूसरों को प्रसन्न रखने के लिये नीच से नीच कार्य करने को भी उद्यत हो जाते हैं। वे अकेला रहना पसन्द नहीं करते और प्रत्येक कार्य में साथी खोजने का प्रयत्न करते हैं। हँसी मजाक में वे कभी कभी सारा दिन व्यतीत कर देते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति सभा सोसाइटियों में सक्रिय भाग लेते हैं और अपने मन के भावों को सुचारु रूप से व्यक्त कर लेते हैं।

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की भांति बहिर्मुखी व्यक्तित्व भी विचार-प्रधान और भाव-प्रधान दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। विचार-प्रधान बहिर्मुखी सभा सोसाइटियों का संगठन करते हैं और सामाजिक नियमों और दोषों को सुधारने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोग अच्छे प्रबन्धक सिद्ध होते हैं। वकील, बैरिस्टर, राजनीतिज्ञ इसी श्रेणी में आते हैं। इनके विपरीत भाव प्रधान बहिर्मुखी लोगों का सम्बन्ध अन्तरात्मा (Intution) से होता है। वे नैतिक नियमों का सुधार चाहते हैं। लोगों को धर्मात्मा बनने का उपदेश देते हैं। धर्म-प्रचारक और सन्त लोगों की गिनती बहिर्मुखी भाव-प्रधान लोगों में की जा सकती है।

३. व्यक्तित्व के तत्व (Elements of Personality) और उनका विकास

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, व्यक्तित्व की परिभाषा करना बहुत कठिन है। इसीलिये यह बताना भी कि व्यक्तित्व के तत्व कौन-कौन से हैं, कठिन है। फिर भी विद्वानों ने व्यक्तित्व के कुछ विशेष गुणों का विवेचन किया है जिनमें से कुछ के विषय में हम यहाँ उल्लेख करेंगे।

(क) स्वतन्त्रता (Freedom):—

आरम्भ में शिशु अपनी सभी बातों के लिये दूसरों पर आश्रित होता है पर धीरे-धीरे उसमें स्वतन्त्र होने की इच्छा उत्पन्न होने लगती है। दो वर्ष का शिशु अपना भोजन स्वयं अपने हाथों खाना पसन्द करता है। वस्त्र पहनने के वस्त्र वह स्वयं चुनता है। अपने व्यक्तिगत कार्यों में वह किसी प्रकार के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करता। यदि आवश्यकता पड़े तो वह अपनी स्वतन्त्रता के लिए संग्राम करने को भी उद्यत हो जाता है। तीन वर्ष के शिशु मित्रों के निर्वाचन में किसी प्रकार के नियन्त्रण को पसन्द नहीं करते।

यदि शैशव काल में शिशु को कठोर नियन्त्रण तथा दण्ड के भय से आज्ञाकारी बनाने का प्रयत्न किया जाय तो उसकी स्वातन्त्र्यवृत्ति कुंठित हो जाती है। ऐसे शिशु बड़े होकर डरपोक, कायर, पराधीन और डरपू हो जाते हैं। इसके विपरीत जिन शिशुओं को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलती है वे निडर, और उद्यमशील बनते हैं।

(ख) आत्मविश्वास (Self-Confidence):—

व्यक्तित्व का दूसरा सबसे बड़ा तत्व है आत्मविश्वास। शिशु जब किसी कार्य को करने में सफल होता है, तो उसे आत्म-सन्तोष होता है और प्रशंसा भी मिलती है। इसी आत्मसन्तोष और प्रशंसा से आत्मविश्वास की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत असफल होने पर वह दुःखी तो होता ही है, पर इसके साथ ही यदि उसे आलोचना या निन्दा का सामना करना पड़े तो वह आत्मविश्वास खो बैठता है। माता-पिता को चाहिये कि वे उससे केवल वही काम करवायें जिन्हें वह सुगमता से कर सकता हो। सफलता मिलने पर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके उसे प्रोत्साहन देना चाहिये। असफलता की दशा में निन्दा करने की अपेक्षा उसे धैर्य बन्धाना चाहिये और फिर से प्रयत्न करने के लिये उत्साहित करना चाहिये। पर हम करते ठीक इसके प्रतिकूल हैं। बालक के असफल होने पर हम उसकी निन्दा करते हैं और कभी-कभी दण्ड देने से नहीं चूकते, पर सफल होने पर हम इस प्रकार चुप हो जाते हैं मानों उस सफलता का कोई मूल्य ही न हो। ऐसा होने पर बालक अपने को उपेक्षित समझने लगते हैं। वे आत्मविश्वास विहीन निराशावादी बन जाते हैं। जीवन पर्यन्त वे अपने को अक्षम्य समझते रहते हैं। वे कभी सोच भी नहीं पाते कि वे भी कभी सफल हो सकते हैं। शिशु में आत्मविश्वास और आशावादिता लाने के लिये उसे कभी भी हतोत्साहित और निराश नहीं होने देना चाहिये।

(ग) आत्मनिर्भरता (Self-Reliance):—

स्वतन्त्रता और आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता को उत्पन्न करते हैं। जिन बालकों को व्यक्तिगत कार्यों में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलती है और जिनमें बार २ सफलता के कारण आत्मविश्वास होता है उनका स्वावलम्बी होना स्वाभाविक ही है। ढाई से तीन वर्ष का शिशु अपना कार्य तो स्वयं करना ही चाहता है दूसरों के कार्य में हाथ बटाना भी चाहता है। यदि उसे ऐसा करने से रोका जाय, तो उसे कार्य करने के विचार से ही घृणा हो जाती है। वह सुस्त और कामचोर हो जाता है। ऐसे बालक सारी उमर अपने काम के लिये दूसरों का मुँह ताकते रहते हैं। व्यक्ति में आत्मनिर्भरता शैशव काल में ही उत्पन्न की जा सकती है। माता-पिता को, शिशु को अपना कार्य स्वयं करने को प्रोत्साहित करते रहना चाहिये।

(घ) आत्मसंयम (Self-Control):—

स्वतन्त्रता, आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और संकल्प शक्ति आत्मसंयम को उत्पन्न करते हैं। आत्मसंयम नैतिक गुणों की जागृति का परिणाम है। पर कड़े नियन्त्रण में पलनेवाले शिशुओं की प्रवृत्ति नियन्त्रण का उल्लंघन करने की होती है। दण्ड का भय उसे कुछ समय के लिये नियन्त्रित अवश्य रख सकता है पर दण्ड के हट जाने पर वह उन्हें

कार्यों को दूने वेग से करता है। फिर नियन्त्रण का उलंघन करने का भी एक आनन्द होता है पर धीरे-धीरे बालक स्वयं अपने ऊपर अपना नियन्त्रण भी खो बैठता है। इसके विपरीत जिन बालकों को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलती है, जो आत्मविश्वासी तथा आत्मनिर्भर होते हैं और जिनकी संकल्प शक्ति प्रबल होती है वे सामान्यतः संयमी भी बन जाते हैं, अतः बालक में आत्मसंयम उत्पन्न करने के लिये इन गुणों का विकास करना अत्यावश्यक है।

(ङ) प्रभुत्व और दीनता (Dominance and Submission):—

शैशव से ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का प्रभुत्व अथवा दीनता प्रकट करने लगता है। मैक्लेनिन के अनुसार जो छोटी आयु में उत्तरदायित्व सम्हाल लेते हैं जिनके सामाजिक सम्बन्ध अधिक विस्तृत होते हैं जिन पर अवाछनीय नियन्त्रण का अभाव होता है। जो शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होते हैं, जो खेलने में प्रवीण होते हैं तथा जिनसे माता-पिता प्रेम-पूर्वक व्यवहार करते हैं उन बालकों के व्यक्तित्व में प्रभुता का विकास होता है। इसके विपरीत जो बालक शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ होते हैं, जिनके घर में झगड़े होते रहते हैं, सहपाठी जिनका उपहास करते रहते हैं, जिन्हें व्यक्तिगत कार्यों में पर्याप्त स्वतन्त्रता नहीं मिलती माता-पिता जिन्हें दण्ड देते रहते हैं अथवा जिनके व्यवहार की तुलना बड़ों के व्यवहार से करते रहते हैं वे स्वभाव से दीन हो जाते हैं। इकलौते बालकों में दूसरों की अपेक्षा प्रभुत्व की भावना अधिक रहती है क्योंकि उन्हें स्वतन्त्रता तथा माता पिता का प्रेम अधिक मात्रा में मिलता है। शिशु के व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने के लिये उसे स्वतन्त्र, आत्म-विश्वासी, स्वावलम्बी और संयमी बनाना चाहिये।

४. शैशव और व्यक्तित्व

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में शैशव का बहुत ऊँचा स्थान है। यों तो बुद्धि और चरित्र की भांति व्यक्तित्व भी वंशानुक्रम और वातावरण दोनों पर निर्भर है फिर भी यह स्पष्ट है कि इसके विकास पर वंशानुक्रम की अपेक्षा वातावरण का प्रभाव अधिक पड़ता है। व्यक्तित्व बनता है व्यक्ति के संवेगों, संवेदनाओं और कल्पनाओं से और संवेग, संवेदना और कल्पना बनती हैं अनुभव से और अनुभव फल है वातावरण का, शैशव से लेकर जीवन पर्यन्त घटी हुई घटनाओं का। शैशव काल में हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, अनुभव करते हैं उन्हीं से हमारी स्मृति तथा बुद्धि बनती है, उन्हीं से हमारे संवेग, व्यवहार, विचार, दृष्टिकोण, कल्पनायें और चरित्र बनता है और उन्हीं से बनता है हमारा व्यक्तित्व।

हमारे अनुभव दो प्रकार के होते हैं सुखद और दुःखद। हमारी प्रकृति दुःखद अनुभव उत्पन्न करनेवाले वातावरण से दूर रहने की होती है। इसी कारण कभी-कभी हमारे हृदय में भावना-ग्रन्थिया भी पड़ जाती हैं। यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि एक ही वातावरण में पले दो व्यक्तियों का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न हो सकता है। व्यक्तित्व पर इस बात का प्रभाव कम पड़ता है कि वातावरण कैसा है, मुख्य प्रभाव तो इस बात का है कि अपने वातावरण के बारे में उस व्यक्ति के क्या विचार हैं जिसके व्यक्तित्व पर हम विचार कर रहे हैं। एक ही घर में पले दो व्यक्तियों के व्यक्तित्व में काफी अन्तर हो सकता है यदि एक अपने घर के वातावरण को सुखद और दूसरा दुःखद समझता है।

अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि व्यक्तित्व की प्रत्येक शाखा की जड़ व शैशव अथवा बाल्यकाल की किसी घटना में खोजी जा सकती है। व्यक्तित्व की विभिन्न शाखायें अंग अथवा तत्व किस प्रकार शैशव से ही बनने लगते हैं, यह हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं। शैशव और बाल्यकाल में बालक का अधिक समय अपने माता-पिता के सम्पर्क में व्यतीत होता है इसलिये उसके व्यक्तित्व के निर्माण का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। व्यक्तित्व को वे बना भी सकते हैं और बिगाड़ भी सकते हैं। उन्हें चाहिये कि वे शिशु के वातावरण को सुखद बनाकर उसे योग्य, चरित्रवान और प्रभावशाली बनायें।

शिशु पालन

जीवन के पहले कुछ वर्ष शिशु अपने भोजन, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं के लिये पूर्णतया अपने माता-पिता पर आश्रित होता है। पिता का अधिक समय घर से बाहर व्यतीत होता है इसलिये शिशु के लालन-पालन का भार माता के सिर पर है। कोई भी स्त्री अच्छी गृहिणी नहीं बन सकती जब तक कि वह शिशु-पालन की रीतियों से परिचित न हो। माता का बर्ताव, देख-रेख तथा लालन-पालन ही शिशु को स्वस्थ, बुद्धिमान, चरित्रवान और योग्य बना सकता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्भर करता है शैशव कालीन परिस्थितियों पर और शैशव काल की परिस्थितियों के निर्माण में माता का महत्वपूर्ण हाथ होता है। माता ही शिशु को साहसी, वीर और स्वस्थ बना सकती है। सभी जानते हैं कि शिवाजी की महानता का कारण उनकी माँ जीजाबाई थी। माता शिशु के लिये क्या कर सकती है, इस सम्बन्ध में हम प्रस्तुत अध्याय में चर्चा करेंगे। शिशु के पालन में माता के सामने कई समस्याएँ उपस्थित हो जाती है और उनके विषय में जानना आवश्यक है। हम प्रत्येक के विषय में संक्षेप में बताने का प्रयत्न कर रहे हैं।

१. माता का दूध (Breast Feeding)

शिशु के लिये मां का दूध सबसे अधिक पौष्टिक सरलता से पचनेवाला और सबसे सस्ता आहार है। देखा गया है कि मां का दूध पीनेवाले शिशुओं की मृत्यु दर दूसरे शिशुओं की अपेक्षा काफी कम होती है। माता के दूध का एक और लाभ यह है कि शिशु अपनी आवश्यकता अनुसार मात्रा में कमी या वृद्धि कर लेता है। मातायें शिशु को तभी दूध पिलाती हैं जब वह भूख लगने पर चिल्लाने लगता है। दूध पीते २ शिशु को जब तृप्ति हो जाती है तो वह दूध पीना स्वयं बन्द कर देता है। इससे उसकी पाचन क्रिया भी ठीक रहती है।

जीवन के पहले कुछ सप्ताह शिशु को चौबीस घन्टों में १० से १२ बार दूध की आवश्यकता प्रकट करता है। परन्तु माता की छाती में दूध की वृद्धि के साथ २ शिशु स्वयं ही दूध पीने के समयों में कमी कर देता है अधिकांश शिशु दिन में ६ बार दूध पीना आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार दूध पीने में दो समयों में चार घंटों का अन्तर होता है। फिर भी माता को इसके लिए कुछ प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। शिशु जन्म के दो मास के भीतर माता का दूध इतना हो जाता है कि एक बार दूध पी

ऐसे यह शिशु चार घण्टे के निश्चित समय पर । शिशुओं के इसी के आधार पर दूध पिलाने की समय तालिका (Schedule) बनाई है जो आदर्श मानी जाती है।

समय तालिका

पहला	समय	प्रातः	६	बजे
दूसरा	"	"	१०	"
तीसरा	"	दोपहर	२	"
चौथा	"	शाम	६	"
पाँचवाँ	"	रात	१०	"
छठा	"	प्रातः	२	"

दूध पिलाने की इस समय तालिका का अर्थ यह नहीं कि यदि शिशु को पहले भूख लग जाए तो उसे दूध न दिया जाए अथवा वह दूध न पीना चाहे तो उसे निश्चित समय पर दूध पीने के लिये विवश किया जाय।

कुछ लोगों का यह मत है कि शिशु को दो बजे रात का दूध नहीं देना चाहिये। उनका यह विचार है कि यदि शिशु को कुछ दिन एक निश्चित समय पर ही दूध पिलाया जाय तो उसको उसी समय दूध पीने की आदत पड़ जायगी और बाद में वह उसमें परिवर्तन करने को राजी नहीं होगा। पर यह विचार मिथ्या है। जैसे-जैसे शिशु बड़ा होता जाता है दूध पीने के दो समयों का अन्तर बढ़ता जाता है, विशेषकर रात्रि के दूध पीने के समयों का अन्तर। अतः दो बजे प्रभात का दूध देने में कोई हानि नहीं। उस समय दूध पिलाने की सरल और आदर्श विधि यह है कि उसे जगाया न जाय बल्कि यदि भूख के कारण वह स्वयं जागकर माँ को जगा दे तो उसे अवश्य दूध दे दिया जाय

कमजोर शिशुओं को सामान्यतः दूध पीने की अधिक आवश्यकता होती है और चार ४ घण्टे के अन्तर की अपेक्षा तीन ३ घण्टे के अन्तर पर दूध पीने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती। ऐसे शिशुओं के लिये निम्न समय-तालिका सर्वोत्तम है।

दूध पिलाने के बारे में सबसे बड़ा सिद्धान्त यह है कि माता को घड़ी की दासी नहीं बन जाना चाहिये, अपितु उसे शिशु की आवश्यकता का भी ध्यान रखना चाहिये।

२. दूध छुड़ाना (Weaning)

माता सदा के लिये शिशु को अपने दूध पर नहीं रख सकती अतः शिशु के भोजन मे दूसरे पदार्थों का समावेश भी करना पड़ता है। क्रमशः माता के दूध के स्थान पर ऊपर का दूध और अन्न आदि को देने की विधि को दूध छुड़ाना कहते हैं। दूध छुड़ाने का तात्पर्य यह नहीं कि शिशु को किसी भी प्रकार का दूध न दिया जाय। इसका अर्थ केवल इतना है कि माता का दूध छुड़ाकर गाय, भैंस, बकरी अथवा डिब्बे का दूध दिया जाय।

(क) दूध छुड़ाने की आयुः--

सामान्यतः दूध छुड़ाने के लिये नौ मास की आयु आदर्श मानी जाती है। कभी २ किसी विशेष कारणवश इससे पहले भी दूध छुड़ाना पड़ जाता है। यदि माता को कोई छूत का रोग हो जावे, छाती मे फोड़ा हो जावे, गर्भ हो जावे अथवा माता जबा-नक बीमार पड़ जावे तो तत्काल ही दूध छुड़ा देना उचित है। फिर भी दूध छुड़ाने से पहले डाक्टर की राय ले लेना अत्यावश्यक है। इसके विपरीत ऐसी भी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनके कारण दूध छुड़ाने का कार्य भविष्य पर टालना पड़े। भारत मे ऊपर का दूध बहुत महँगा पड़ता है और अधिकांश परिवार निर्धनता के कारण उसे मोल लेने में समर्थ नहीं है। ऐसी दशा मे दूध छुड़ाकर शिशु को वंचित कर देना उसके स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। इसलिये इस स्थिति मे माता का दूध जारी रखना ही बुद्धिमानी है। फिर भी शिशु की खुराक मे दूसरे पदार्थ मिला देना आवश्यक है। आरम्भ मे सूजी, पिसे हुये चावल, जौ तथा चीनी देना उत्तम है। जौ या चावल को आधे दूध और आधे पानी मे पकाकर उसमे चीनी डालकर शिशु को खिला देना चाहिये और ऊपर माँ का दूध पिला देना चाहिये। इस भोजन से पहले कभी भी माँ का दूध नहीं पिलाना चाहिये।

ऊपर यह बताया गया है कि दूध छुड़ाने की आदर्श आयु नौ मास है। सामान्यतः शिशु के आचरण से पता चल जाता है कि दूध छुड़ाने का समय आ गया है। माता का दूध पिलाये जाने पर भी जब शिशु चिल्लाकर यह प्रकट करता है कि उस दूध मे उसको तृप्ति नहीं हुई अथवा दूध पिलाने के निश्चित समय से काफी देर पहले वह रोकर माता की छाती पर आने की चेष्टा करके यह प्रकट करता है कि उसे भूख लगी है तब यह समझना चाहिये कि दूध छुड़ाने का समय आ गया है। दूध छुड़ाने योग्य आयु के निकट कभी-कभी शिशु को कब्ज (Constipation) हो जाता है और कभी-कभी

पतले प्रायः दस्त आने लगते हैं। ऐसी दशा में डाक्टर की अनुमति लेकर दूध छुड़ा देना चाहिए।

(ख) विधिः—

ऊपर बताई गई परिस्थितियों को छोड़ एक-बारगी दूध छुड़ाना हानिकारक है। दूध छुड़ाने की सर्वोत्तम विधि यह है कि सर्वप्रथम दूध पिलाने के किसी एक समय माता के दूध को अपेक्षा ऊपर का दूध दिया जाय। अच्छा यह है कि यह समय १० बजे प्रातः २ बजे दोपहर अथवा ६ बजे शाम का हो। फिर प्रत्येक सप्ताह या दस दिन बाद एक २ समय का दूध छुड़ाकर ऊपर का दूध देना शुरू कर दिया जाय। इस रीति से दूध छुड़ाने में एक डेढ़ मास का समय अवश्य लग जाता है पर यही रीति आदर्श है क्योंकि इससे न तो शिशु को कष्ट होता है और न माता ही को। अचानक दूध छुड़ा देने से शिशु को दुःख होता है और माता को पीड़ा। पाठकों की सुविधा के लिये हम एक तालिका में दूध छुड़ाने की इस विधि का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

सप्ताह	प्रातः ६ बजे	प्रातः १० बजे	दोपहर २ बजे	शाम ६ बजे	रात १० बजे
प्रथम	छाती	बोतल	छाती	छाती	छाती
द्वितीय	छाती	बोतल	छाती	बोतल	छाती
तृतीय	छाती	बोतल	बोतल	बोतल	छाती
चतुर्थ	छाती	बोतल	बोतल	बोतल	बोतल
पंचम	बोतल	बोतल	बोतल	बोतल	बोतल

इस प्रकार प्रथम सप्ताह १० बजे दिन का दूध छुड़ा दिया जाता है। दूसरे सप्ताह ६ बजे शाम का दूध भी। तीसरे सप्ताह दो बजे दोपहर और चौथे सप्ताह १० बजे रात वाला दूध भी छुड़ा दिया जाता है। अन्त में पाँचवें सप्ताह ६ बजे प्रातः का भी दूध छुड़ा दिया जाता है।

कुछ मातायें दूध छुड़ाने के लिये अपनी छाती पर कुनैन, रस, मिर्च या और कोई कड़ुआ पदार्थ लगा लेती हैं पर यह विधि अवैज्ञानिक है।

(ग) ऊपर का दूध और भोजनः—

अब प्रश्न यह उठता है कि माता के दूध के स्थान पर कितना और कैसा दूध देना चाहिये और शिशु के भोजन में कौन-कौन सा पदार्थ होना चाहिये। अच्छा तो यह है कि इस विषय में किसी योग्य डाक्टर की राय ली जाय। यदि किसी कारण ऐसा न हो सके तो आध पाव गाय का दूध, १ छटांक शुद्ध जल और दो चम्मच चीनी मिलाकर ३ मिनट तक उबाल लेना चाहिये। प्रति बोतल में इतना ही दूध देना चाहिये। यदि इतना दूध शिशु के लिये अपर्याप्त हो तो ३ छटांक दूध, थोड़ा सा जल (भाप बनकर उड़ने के लिये), और दो चम्मच चीनी डालकर उबाल लेना चाहिये। ताजा दूध न मिले तो डिब्बे का

दूध जैसे ग्लैक्सो (Glaxo), डियूमेक्स बेबी फूड (Dumex Baby Food), काऊ एण्ड गेट मिल्क (Cow and Gate milk) आदि का प्रयोग किया जा सकता है।

(घ) भोजन तालिका:—

(१) शाकाहारी परिवार के शिशुओं के लिए

आयु	समय	भोजन
६-९ मास	६ बजे प्रातः	माँ का दूध
	१० ,, ,,	,,
	२ ,, दोपहर	,,
	६ ,, शाम	टोस्ट, चपाती, माँ का दूध
	१० ,, रात	माँ का दूध
९-१० मास	६ ,, प्रातः	माँ का दूध
	१० ,, ,,	साबूदाना या सूजी, मक्खन मिले उबले हुए आलू, बोतल से दूध
	२ ,, दोपहर	माँ का दूध
	६ ,, शाम	बिस्कुट या रस (डबल रोटी) (Rusk)
	१० ,, रात	माँ का दूध
१०-१२ मास	६ ,, प्रातः	बोतल का दूध
	१० ,, ,,	दाल या पालिश न किये हुए चावल खिचड़ी, आलू या गाजर का शोरबा पालक का साग
	२ ,, दोपहर	चपाती, टोस्ट, मक्खन, बिस्कुट फलों का रस, बोतल से दूध
	६ ,, शाम	जौ, सूजी, साबूदाना, पिसे हुए चावल
	१० ,, रात	बोतल से दूध

रात के १० बजे से प्रातः ६ बजे तक शिशु को कुछ खाने को नहीं देना चाहिए

(२) मांसाहारी परिवार के शिशुओं के लिए

आयु	समय	भोजन
६-९ मास	६ बजे प्रातः	मां का दूध
	१० ,, ,,	जौ, मां का दूध
	२ ,, दोपहर	माँ का दूध

आयु	समय	भोजन
	६ बजे शाम	बिस्कुट, टोस्ट, चपाती, माँ का दूध
	१० ,, रात	माँ का दूध
९-१० मास	६ ,, प्रातः	माँ का दूध
	१० ,, ,,	सूजी, मक्खन मिले उबाले हुए आलू, बोतल से दूध
	२ ,, दोपहर	शोरबा या यख़नी के साथ हरी तरकारियाँ। सप्ताह में तीन बार चौथाई या आधे हल्के उबले हुए अंडे की जर्दी और रोटी।
	६ ,, शाम	बिस्कुट या रस (डबल रोटी) बोतल से दूध
	१० ,, रात	माँ का दूध
१०-१२ मास	६ ,, प्रातः	बोतल से दूध
	१० ,, ,,	दाल या पालिश न किये हुए चावल, आधा उबला अण्डा पालक का साग, खिचड़ी, आलू या गाजर का शोरबा या यख़नी
	२ ,, दोपहर	चपाती, टोस्ट, मक्खन, बिस्कुट, फलों का रस, बोतल से दूध
	६ ,, शाम	जौ, सूजी, साबूदाना, बोतल से दूध
	१० ,, रात	बोतल से दूध

रात को दस बजे से प्रातः ६ बजे तक शिशु को कुछ खाने को नहीं देना चाहिये।

(ङ) दूध छुड़ाने में कठिनाइयाँ:—

दूध छुड़ाने पर माता के स्तन दूध से भरकर भारी हो जाते हैं और उनमें पीड़ा होने लगती है। इस दशा मे माता को कुछ दिन प्रातः फ्रूट साल्ट की हल्की-सी खुराक ले लेनी चाहिये। यदि तब भी आराम न आये तो डाक्टर से दूध कम करने वाली दवा लेकर उसका सेवन करना चाहिये। छाती से दूध निकालने वाले आले का भी प्रयोग किया जा सकता है। इस आले से पूरी भरी हुई छाती को खाली करने में लगभग २० मिनट लग जाते हैं।

दूध छुड़ाने मे सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि छाती का दूध पीने का अभ्यस्त शिशु इतने बड़े परिवर्तन को सुगमता से सहन करने को तैयार नहीं होता। ऐसी दशा मे उससे जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये। यदि वह बोतल अथवा प्याले मे

दूध पीना पसन्द नहीं करता तो उसे दूसरे भोजन अन्न और माँ का दूध देना चाहिए। दूसरे आकार अथवा लम्बाई की रबड़ की निपल लगाकर बोतल के प्रति शिशु की घृणा कम की जा सकती है। यदि तब भी शिशु न माने तो दो बजे दोपहर का दूध पूर्णतः बन्द कर देना चाहिये। इस प्रकार ६ बजे तक उसे इतनी भूख लग जायगी कि वह बोतल से लेगा। शायद इस प्रकार बोतल देने में कुछ दिन लग जायें पर यही विधि श्रेष्ठ है। शिशु से जोर-जबरदस्ती का परिणाम केवल यह होता है कि बोतल के प्रति उसकी घृणा और भी बढ़ जाती है। ऊपर बताई गई विधि के द्वारा भी यदि ६ बजे वह बोतल न ले तो उसे उस समय माता का दूध दे देना चाहिये पर फिर कभी दो बजे माता का दूध नहीं देना चाहिये। इस प्रकार कुछ दिनों के उपरान्त वह अवश्य बोतल से लेगा।

(घ) बोतल छुड़ाना:—

धीरे २ शिशु बोतल का आदी हो जाता है और बाद में कभी २ उससे बोतल छुड़ाना भी कठिन हो जाता है। अच्छा तो यह है कि पाँच-छः मास के शिशु को कभी २ प्याले या गिलास में थोड़ा-सा दूध दिया जाय। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उस समय से ही माता का दूध छुड़ा दिया जाय या बोतल लगाई न जाय। इसका ध्येय केवल शिशु को यह ज्ञान कराना है कि प्याले अथवा गिलास में भी दूध पिया जाता है। ऊपर बताये गये दूध के घोल का ½ छटाँक दूध उसे कभी प्याले या गिलास से पिला देना चाहिये यदि ऐसा किया जाय तो एक वर्ष की आयु तक पहुँचते २ वह अपने आप ही बोतल को छोड़कर प्याले अथवा गिलास में दूध पीने की सभ्य रीति को अपना लेता है। थोड़े से शिशु इसके विपरीत भी आचरण करते हैं। प्याले अथवा गिलास से दूध दिये जाने पर वे यह दिखाते हैं मानो उन्हें पता ही नहीं कि उसमें क्या है। इस प्रकार दूध पिलाये जाने पर वे मुस्कराते हुये अपने मुँह से दूध बाहर गिरा देते हैं। ऐसे बच्चे १½ या २ वर्ष की आयु तक बोतल से प्रेम और प्याले या गिलास से घृणा करते रहते हैं। यदि ऐसे किसी शिशु से उसकी बोतल बल-पूर्वक छीनने का प्रयत्न किया जाय तो वह और भी गम्भीरता-पूर्वक प्याले अथवा गिलास से दूर भागता है। ऐसी परिस्थिति में माता-पिता को शान्ति और धैर्य से काम लेना चाहिए। प्याले या गिलास से घृणा करनेवाले शिशु को यदि रंगदार प्याला दिया जाय तो वह उसे ■ मजा ■ से लेता है। दूध में सुगन्ध अथवा खानेवाला रंग डालकर भी उसे रिझाया जा सकता है। कभी २ ठण्डा दूध देने की युक्ति भी काम में आ जाती है। जो शिशु ऊपर के दूध से घृणा करने लगते हैं उन्हें ओवल्टीन मिला दूध पसन्द आ जाता है। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि शिशु को कभी यह आभास नहीं होने देना चाहिये कि उससे उसकी प्यारी बोतल छीनी जा रही है।

३. वस्त्र

किसी भी व्यक्ति को वस्त्र पहनाने का ध्येय यह होता है कि उसके सम्पूर्ण शरीर को समान रूप से उष्णता मिलती रहे। शिशु के वस्त्र ऐसे होने चाहिए जो उसे गरमी सरदी से बचा सकें। उसके हाथ पांव गरम रहने चाहिये पर इतने गरम भी नहीं कि उनमें से पसीना बहने लगे। शिशु यदि लगातार पसीना बहाये तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उसे आवश्यकता से अधिक वस्त्र पहनाये गये हैं। आवश्यकता से अधिक वस्त्र पहनाये जाने से शिशु अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने की क्षमता खो बैठता है।

शिशु के वस्त्र सादे, स्वच्छ, मनोहर, हल्के फुलके और ऋतु के अनुकूल होने चाहिये। वस्त्र ऐसे होने चाहिए जिनमें वह सुगमता से हाथ पांव हिला सके। वस्त्रों का चुनाव जलवायु पर तो निर्भर करता ही है, शिशु के स्वास्थ्य, वजन, कद, आयु द्वारा भी प्रभावित होता है। पांच पौंड से कम वजन के शिशु अपने को वातावरण के अनुकूल नहीं बना सकते, उन्हें सरदी गरमी से सुरक्षित रखना ही पड़ता है जब कि आठ पौण्ड के शिशु को बाहर से विशेष गरमी पहुँचाने की आवश्यकता नहीं होती। मोटे शिशु को सामान्यत: उतने वस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती जितनी एक दुबले को होती है।

अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि विभिन्न आयु के शिशुओं को किस प्रकार के वस्त्रों की आवश्यकता होती है।

(क) नवजात शिशु:—

नवजात शिशु के वस्त्रों के सम्बन्ध में हम शिशु के स्वागत पर विचार करते हुए सविस्तार बता चुके हैं। हम यहां पुनरुक्ति करने की आवश्यकता नहीं समझते।

(ख) नौ मास का शिशु: —

नौ मास की आयु के शिशु को पहले से अधिक वस्त्रों की आवश्यकता होती है। इस आयु में शिशु पहले से अधिक चुस्त हो जाता है और वस्तुओं को पांवों से ठोकर भी मारने लगता है। इसलिये उसके वस्त्र ऐसे होने चाहिये जो उसकी इस शरारत से फट न जायें। वस्त्र ढीले तथा मज़बूत होने चाहिए। तंग वस्त्रों में शिशु का शारीरिक विकास रुक जाता है। अक्सर मातायें शिशु को सरदी गरमी से बचाने के लिए उसका मुँह ढांप देती हैं पर ऐसा करना उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

(ग) एक वर्ष का शिशु —

इस आयु में शिशु के लिये कुरता, लंगोट और शरद् ऋतु में स्वैटर भी, पर्याप्त है। एक वर्ष का शिशु अपनी टाँगें ढाँकना पसन्द नहीं करता। रेंगने वाले शिशुओं को मोज़े तथा जूते पहना देना अच्छा है ताकि रेंगते हुए वे अपने पैर को घिस कर ज़ख्मी न कर लें।

(घ) दो वर्ष का शिशु:—

शिशु अब चलने-फिरने लगता है इसलिए उसे बनियान, कमीज, पैण्ट अथवा पाजामा और जूतों की आवश्यकता होती है। जूते रबड़ अथवा कपड़े के हों तो अच्छा है। शिशु अब स्वयं कपड़े पहन सकता है पर उतार नहीं सकता। उसे स्वयं पहनने और उतारने का ढग इसी आयु में सिखा देना चाहिये।

(ङ) ढाई वर्ष का शिशु:—

ढाई वर्ष के शिशु के वस्त्र ऐसे होने चाहिये जिन्हे वह स्वयं पहन सके और उतार सके। बटन खूब बड़े-बड़े होने चाहिये और ऐसे स्थान पर होने चाहिये जहाँ वह उन्हें सुगमता से बन्द कर सके और खोल सके। इस आयु में उसे अपना वस्त्र स्वयं चुनने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए। उन्हें यह भी सिखा देना चाहिये कि जब वह उन्हें उतारे तो उन्हें खूँटी पर लटका दें। इसके लिये कुछ खूँटियाँ काफी नीची लगवानी चाहिए जिन पर उसका हाथ पहुँच सके।

(च) तीन वर्ष का शिशु:—

इस आयु में वह अब अधिक बाहर घूमने लगता है। इसलिये उसके वस्त्र काफी ढीले-ढाले होने चाहिए ताकि उसे खेलने कूदने में कोई कष्ट न हो।

४. दूध के दाँत

जैसा कि आठवें अध्याय में बताया गया है कि ६ मास की आयु के निकट दूध के दाँत निकलने लगते हैं। दाँत निकलते समय अक्सर शिशुओं को दस्त लग जाते हैं अथवा उनकी आँखें उठ आती है और बुखार हो जाता है। इसका कारण यह है कि जब दाँत निकलने लगते हैं तो शिशु के मसूड़ों में खुजलाहट होने लगती है। वह प्रत्येक वस्तु को दाँतों से काटने लगता है। इस प्रकार जो वस्तु भी उसे पड़ी हुई मिलती है, वह उठा कर मुँह में डाल लेता है जिससे उसकी पाचन क्रिया खराब हो जाती है और दस्त आने लगते हैं।

दाँत निकलने से पहले मसूड़ों में सूजन हो जाती है जिससे शिशु को बहुत कष्ट होता है। ऐसी दशा में उसके मसूड़ों पर बादी के बच्चा का पिछला भाग रगड़ने से कष्ट कुछ कम हो जाता है। हर रोज भीगी हुई लिंट से मसूड़ों को साफ करते रहने से भारी लाभ होता है। रोयेंदार तौलिये से दाँतों को दबाते रहने से वह सुगमता से निकलते हैं। दाँत निकलते समय, शिशु की काटने की प्रवृत्ति को शान्त करने के लिए उसे बिस्कुट टोस्ट कच्ची गाजर, सेब, बैंगन आदि काटने को देना चाहिये। इससे दाँतों को मसूड़ों से बाहर निकलने में सुगमता होती है। खेलने के लिए शिशु को प्ला- स्टिक या रबड़ के खिलौने देने चाहिए। उन खिलौनों से सावधान रहना अत्यावश्यक

है जिन पर पालिश को होती है क्योंकि बच्चे उनको तोड़कर टुकड़े खा जाते हैं जिससे पेट बिगड़ जाने की सम्भावना रहती है। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि शिशु कुर्सी, मेज की पालिश ही दाँतों से छीलकर निगल न जाय।

दाँत निकालते समय शिशु को पौष्टिक तत्वों की विशेष आवश्यकता होती है। उसके लिए कैल्सियम और विटामिन डी बहुत आवश्यक है। कैल्सियम उसे मां के दूध या ऊपर के दूध में मिल जाता है। विटामिन डी के लिये उसे अडेक्सोलीन (Adexoline), एबडिक ड्राप्स (Abdec Drops) अथवा विटामिनाल (Vitaminol) ५ से १० बूँदें प्रतिदिन मां के दूध, ऊपर के दूध अथवा फलों के रस में मिलाकर देना चाहिए।

निचले दाँत निकल आने पर कभी-कभी शिशु उन पर जीभ रगड़ कर उसे जख्मी कर लेता है। ऐसी दशा में उस पर बोरिक ग्लैसरीन पेंट (Boric Glycerine Paint) लगा देनी चाहिए।

एक वर्ष की आयु तक शिशु के दाँतों को ब्रश करने की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी हर बार दूध पीने अथवा कुछ खाने के बाद उसे थोड़ा-सा पानी पिला देना चाहिये जिससे उसके दाँत तथा मसूढ़े अपने आप साफ हो जायें। डेढ़ वर्ष का शिशु इस योग्य हो जाता है कि वह अपने दाँत साफ कर सके। बच्चों के दाँत मीठी वस्तुओं के अधिक खाने से खराब हो जाते हैं इसलिए मीठी वस्तु खाने पर उसे दाँत साफ करने को प्रेरित करना चाहिए। दो वर्ष के शिशु से दिन में दो बार दाँत साफ कराने चाहियें, विशेष रूप से खाना खाने के उपरान्त। आरम्भ में शायद वह ब्रश को चूसे पर ढाई वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते वह ब्रश करने की विधि सुचारु रूप से सीख जायगा। शिशु को यदि ब्रश की जगह दातुन देना हो तो उसका सिरा कूटकर ब्रश सा बना देना चाहिए। हां ढाई वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते वह उसे दाँतों से चबाकर ब्रश बनाना सीख जाएगा। शिशु के लिये दातुन कोमल तथा हरी शाख का होना चाहिये। सामान्यतः बबूल, नीम, पाकर, फुलाई, टिम्बर के दातुन अच्छे माने जाते हैं। दातुन अथवा ब्रश करने के लिये यह याद रखना अत्यावश्यक है कि ऊपर के दाँतों को मसूढ़े की ओर से नीचे की ओर और नीचे के दाँतों को मसूढ़े की ओर से ऊपर की ओर ब्रश या दातुन करना चाहिये, तात्पर्य यह कि ब्रश या दातुन मसूढ़े की ओर से दाँत की ओर आना चाहिये, न कि दाँत की ओर से मसूढ़े की ओर।

शिशु के जब कुचलने वाले दाँत निकलने लगें (ऐसा लगभग एक वर्ष की आयु में होता है) तो किसी योग्य दन्त-चिकित्सक (Dentist) को उसके दाँत दिखाने चाहिये। इसके बाद भी हर चार या छः मास बाद उसके दाँतों का परीक्षण कराते रहना चाहिये।

यदि मातायें ऊपर बताई गई रीतियों को काम में लायें तो कोई कारण नहीं कि शिशु के दांत सुगमता से न निकलें या उसे पेट या आँख में कष्ट हो। यदि ऐसा हो तो डाक्टर की राय लेना आवश्यक है।

५. वजन

शिशु के विकास के विषय में जानकारी प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन यह है कि उसे समय २ पर तोला जाय और उसके तौल का रिकार्ड रखा जाय। डाक्टर कैसी (Cassie) के मतानुसार शिशु के सामान्य विकास के सम्बन्ध में जानने के लिये उसे प्रति सप्ताह तौलने के अतिरिक्त और कोई सरल अथवा पूर्ण साधन नहीं। कुछ भारतीय मातायें यह समझती हैं कि बच्चों को तौलने से उन्हें नजर लग जाती है पर ऐसा सोचना भ्रम के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। बच्चे को तौलते रहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे उचित तथा पर्याप्त भोजन मिल रहा है अथवा नहीं। इस प्रकार कांटा शिशु के लिये घरेलू डाक्टर का काम करता है।

शिशु के तौलने के लिये कांटा काफी अच्छा और ठीक होना चाहिये। घड़ी की शकल के कांटे से दो पलड़े वाले कांटे श्रेष्ठ माने जाते हैं। यदि घड़ीदार कांटा उपयोग में लाना हो तो तौलने से पहले उसकी सुई को शून्य (Zero) पर कर लेना भूलना नहीं चाहिये। कांटे को धूप आदि से बचाकर रखना चाहिये अन्यथा वह गलत वजन बताने लगता है।

बड़े-बड़े नगरों में तथा स्टेशनों पर स्वयचालित (Automatic) कांटे लगे रहते हैं जनके ऊपर खड़े होकर एक आना डालने से वजन की टिकट निकल आती है। शिशु को उस कांटे पर भी तौल कर टिकट को रिकार्ड के रूप में रखा जा सकता है। अधिकतर ऐसी टिकटों पर तौलने की तिथि नहीं लिखी रहती इसलिये उन पर तिथि लिखकर ही रिकार्ड बनाना चाहिए। यदि घर में कांटा हो तो प्रत्येक सप्ताह शिशु को तौलकर एक अलग डायरी पर लिखते रहना चाहिये। यह बात ध्यान रखना आवश्यक है कि शिशु के वजन की यह डायरी उसकी जन्म कुण्डली से भी अधिक महत्वपूर्ण है अतः उसे भली-भांति सम्हाल कर रखना चाहिए। आधुनिक विद्वान वजन नोट करने की रेखा उसका ग्राफ बनाना अधिक अच्छा समझते हैं।

शिशु का तौल सदा नग्न करके लेना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो उसे चादर में लपेट कर भी तौला जा सकता है पर ऐसी दशा में चादर आदि का वजन अलग लेकर कुल वजन में से घटा देना चाहिये और शेष को ही डायरी में लिखना या लिखना चाहिये।

शिशु के वजन के सम्बन्ध में हम एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि उत्तर ... माता-पिता के स्वास्थ्य और वजन का बहुत प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार बच्-

वायु भी उसे प्रभावित करती है। एक पठान या पंजाबी शिशु का वजन निःसन्देह एक बंगाली या मदरासी शिशु के वजन से अधिक होता है। अतः शिशु के वजन की तुलना कभी दूसरे शिशु के वजन से नहीं करनी चाहिये। वजन के रिकार्ड में विशेष यह देखने की आवश्यकता है कि उसका विकास प्रगति कर रहा है अथवा नहीं। सामान्य शिशु से वजन कम होने पर भी यदि किसी विशेष शिशु के वजन चार्ट की वक्ररेखा (Curve) क्रमशः ऊपर को उठ रही है तो अच्छा है और चिन्ता की कोई बात नहीं होती। पर यदि लगातार एक दो सप्ताह से अधिक समय के लिये वह वक्ररेखा स्थिर रहे अथवा नीचे गिरती जाय तो अवश्य ही किसी डाक्टर को राय लेनी चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी विशेष शिशु का वजन बढ़ता जा रहा है तब तो ठीक है। पर यदि वह स्थिर होने या गिरने की प्रवृत्ति दिखावे तो चिन्ता की बात है।

६. मल-मूत्र-निष्कासन-दीक्षा (Toilet Training)

आरम्भ में शिशु बिल्कुल अबोध होता है और उसे यह ज्ञान नहीं होता कि बिस्तर पर अथवा जहाँ कहीं मल-मूत्र कर देना असभ्यता है और माता के लिये कष्टदायक भी है। अतः उसे यह बोध कराना कि मल-मूत्र करने की सभ्य विधि क्या है ? माता के कर्तव्यों में सम्मिलित है। मल निष्कासन और मूत्र निष्कासन की दीक्षा के विषय में अलग २ विचार करना अधिक सुविधाजनक है।

(क) मल-निष्कासन दीक्षा (Bowel Training):—

सामान्यतः जन्म के द्वितीय वर्ष शिशु को ठीक स्थान तथा समय पर मल विसर्जित करने की आदत डाली जा सकती है। शिशु जब अकेला बैठने के योग्य हो जाता है, उसी समय उसे मल निष्कासन की दीक्षा मिलनी शुरू हो जानी चाहिये। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि एक से डेढ़ वर्ष की आयु में शिशु बिना किसी की सहायता के बैठने लगता है इस आयु में उसे यह ज्ञान हो जाता है, कि टट्टी आने से पहले शरीर में किस प्रकार का अनुभव होता है और उस अनुभव के होने पर क्या करना चाहिये।

शिशु को मल निष्कासन की दीक्षा देने के लिये न तो विशेष प्रयत्न की आवश्यकता ही होती है और न विशेष प्रयत्न करना ही उचित है। यदि शिशु को विशेष समय या स्थान पर टट्टी करने को विवश किया जाय तो इसके विरुद्ध उसके हृदय में विद्रोह सा खड़ा हो जाता है। वह किसी विशेष समय का तो पाबन्द हो नहीं सकता, विशेष स्थान पर भी टट्टी करने से इन्कार कर देता है। कुछ शिशु कमोड (Camod) पर अथवा पाखाने (latrine) में बैठने से इसलिये घबड़ाते हैं कि कहीं वे उसमें गिर न जाएं। ... घोड़े को घसीट कर तालाब के पास ले जा तो सकते हैं पर यदि वह पीना न चाहे तो

आप जबरदस्ती उसे पानी नहीं पिला सकते। इसी प्रकार आप शिशु को संडास में ले जा तो सकते हैं पर वहां उसे टट्टी करने को विवश नहीं कर सकते।

मल-विसर्जन को दोस्त जबरदस्ती देने से शिशु के चरित्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। साधारणतया ऐसा शिशु हठी और जिद्दी हो जाता है और वह मां बाप के हर आदेश पर "न" कर देता है। वह आज्ञाकारी नहीं बनता। इसी प्रकार कपड़ों में ही टट्टी कर देने से माता यदि उसे फटकारती है तो वह अपने को अपराधी समझने लगता है जिससे उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधा पड़ती है। उसमें आत्म-हीनता की ग्रन्थि पड़ जाती है और वह निराशावादी हो जाता है।

कुछ शिशु ऐसे भी होते हैं जिन्हें दिन में कई बार टट्टी आती है ऐसे किसी शिशु को ठीक समय तथा स्थान पर टट्टी करने की आदत डालना कठिन होता है। कुछ शिशु यह आदत सीखने में देर भी मुक्त होते हैं। इसलिये माता को चिन्ता करने की अपेक्षा सन्तोष से काम लेना चाहिये। शिशु को डांट फटकारकर उसके चरित्र तथा व्यक्तित्व को हानि पहुंचाने की अपेक्षा एक दो मास और लंगोट धो लेना कहीं अधिक अच्छा है।

उपरोक्त कथन से कुछ लोगों के मन में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि यदि शिशु को मल-विसर्जन की उचित आदत डालने के लिये विवश न किया जाय तो इस सम्बन्ध में उसकी बुरी आदत बनी रहेगी। ऐसी शंका केवल उन्हीं के मन में उत्पन्न हो सकती है जो शिशु मनोविज्ञान से अनभिज्ञ हों। शिशु में नकल करने की प्रवृत्ति होती है। शिशु में जिज्ञासा होती है और शिशु में माता-पिता की भांति सभ्य बनने की इच्छा होती है। इसलिये यह शिक्षा यदि सहानुभूति से दी जाय तो अवश्य सफल होगी। विवशता तो इसके प्रति उसके मन में घृणा उत्पन्न कर देगी।

जो शिशु मल-विसर्जन का ढंग सीखने के योग्य हों उन्हें यह भी सिखाना चाहिये कि इसके लिये वे इस प्रकार बैठें कि उनके घुटने कूल्हों से ऊपर रहें।

कुछ अमीर परिवारों में मल-विसर्जन करने के लिए शिशुओं के लिये भी कमोड की व्यवस्था हो जाती है। ऐसी दशा में भी सीढ़ा होना चाहिये जिस पर शिशु स्वयं चढ़ और उतर सके। शिशु के कमोड में भुजायें होनी चाहिये ताकि उसे गिरने का भय न हो।

शिशुओं के लिये ऐसे भी कमोड मिलते हैं जिन पर खिलौने, चिनगी, मनुष्य या किसी पशु का सिर आदि बना रहता है। ऐसे कमोड सर्वथा अवैज्ञानिक होते हैं। शिशु का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं जिससे वह ठीक प्रकार से टट्टी नहीं कर पाता।

अन्त में पाठकों की जानकारी के लिए हम यह भी बता देना चाहते हैं कि एक स्वस्थ शिशु को टट्टी करने में लगभग ५ मिनट लगते हैं।

(ग) मूत्र-निष्कासन दीक्षा (Urine Training): –

जब शिशु यह समझने लगे कि शरीर में किस प्रकार का अनुभव होता है जिसके बाद उसे मूत्र आ जाता है, तभी उसे मूत्र-निष्कासन की दीक्षा दी जा सकती है। डाक्टर रसल (Russel) का कहना है कि जब शिशु की मूत्र की थैली (Bladder) इतनी बड़ी हो जाय कि उसमें दो घन्टे तक मूत्र रुका रह सके तो उसे पेशाब की उचित आदत डाली जा सकती है। शिशु को यह दीक्षा देने से पहले दो नियमों को हृदयंगम कर लेना चाहिए। पहला तो यह कि शिशु को मूत्र की थैली इतनी बड़ी हो जानी चाहिए कि यह कम से कम दो घन्टे तक पेशाब रोक सके और दूसरे यह दीक्षा अचानक न शुरू करके थोड़ी-थोड़ी रोज देनी चाहिए।

सामान्यतः डेढ़ दो वर्ष की आयु में शिशु की थैली इतनी बड़ी हो जाती है कि वह पहले नियम को सन्तुष्ट करे। इसलिये इस आयु से पहले मूत्र की दीक्षा व्यर्थ है। व्यर्थ ही नहीं हानिकारक भी हो सकता है। डाक्टर स्पॉक (Spock) के शब्दों में आप मूत्र की थैली को शिक्षा नहीं दे सकते। अच्छे ■ अच्छा आप यह कर सकते हैं कि आप शिशु को सिखा सकें कि वह वहीं पेशाब करे जहाँ आप चाहते हैं और खराब से खराब आप यह कर सकेंगे कि आपकी कठोर दीक्षा के परिणाम-स्वरूप शिशु पेशाब-घर में जाने के विचार से ही घृणा करने लगे।

जहाँ तक दूसरे नियम का सम्बन्ध है अधिकांश मातायें उसका उल्लंघन करती हैं। अकस्मात् ही वे यह निर्णय कर लेती हैं कि शिशु को मूत्र-दीक्षा देने का समय आ गया है और वे यह आशा कर लेती हैं कि शिशु उसी समय से उनकी इच्छानुसार समय तथा स्थान पर पेशाब करेगा। यह विधि पूर्णतः अमनोवैज्ञानिक है। आप न तो शिशु के पेशाब का समय ही निश्चित कर सकते हैं और न ही उसे किसी विशेष स्थान पर पेशाब करना एक ही दिन में सिखा सकते हैं।

शिशु को मूत्र-दीक्षा देने का एक ही तरीका है कि उसे हर दो घन्टे के बाद निश्चित स्थान पर पेशाब करवाया जाय। धीरे-धीरे उसमें यह भावना आ जायगी कि उस समय से पहले उसे अपनी मूत्र की थैली पर वश रखना है और फिर वह यह सीख जायगा कि वह ठीक स्थान तथा समय पर पेशाब करे, अपने कपड़ों में नहीं। फिर भी आरम्भ में कभी-कभी पेशाब की थैली का वश न करने से वह अपने को असमर्थ पायगा और कपड़ों में ही उसका पेशाब निकल जायगा। ऐसी दशा में उसे फटकारना अथवा मारना सर्वदा हानिकारक है। माताओं को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि शिशु को तब तक मूत्र-दीक्षा नहीं दी जा सकती जब तक कि वह इसमें सहयोग करने के योग्य न हो जाय।

अक्सर माताएँ इस डर से कि शिशु बिस्तर खराब न कर दे, उठा-उठाकर उसे पेशाब करवाती हैं। शिशु इसे पसन्द नहीं करता और न ही इससे वह यह सीख

७. शैशव-कालीन कुछ रोग और उनकी चिकित्सा

शैशव कालीन रोगों के विषय में वर्णन किये बिना शिशु पालन का अध्याय अधूरा है। पर इतनी छोटी पुस्तक में शैशव के सभी रोगों का वर्णन करना असम्भव है। इसलिये हम कुछ प्रमुख रोगों के विषय में ही बता कर शिशु पालन के इस अध्याय को समाप्त करेंगे। शैशव काल के प्रमुख रोगों को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) आहार सम्बन्धी रोग (Nutritional Diseases)।
(ख) पाचन क्रिया ,, ,, (Digestive Disturbances)।
(ग) चर्म रोग ,, ,, (Skin Troubles)।
(घ) आवेश तथा ऐंठन (Fits and Convulsion)।

(क) आहार सम्बन्धी रोग:

(१) अपर्याप्त आहार (Under Feeding)—आहार के पर्याप्त न होने के कारण शिशु दुर्बल होता चला जाता है। मां का दूध पीनेवाले शिशु जब छाती का पूरा दूध पीकर भी तृप्त नहीं होते तो वह दूध समाप्त हो जाने पर भी उसे चूसते रहते हैं जिससे उसके आमाशय में वायु चली जाती है और उसे शूल (Colic pain) होने लगता है वजन गिरने लगता है या स्थिर हो जाता है और कब्ज हो जाती है।

ऐसे शिशु को एक समय में दोनों छातियों का दूध देना प्रारम्भ कर देना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि छाती में दूध समाप्त होने के बाद वह उसे चूसता न रहे यदि आवश्यकता हो तो दूध पिलाने के समयों का अन्तर चार-चार घण्टे से घटाकर ३-३ घन्टे कर देना चाहिये। यदि सम्भव हो तो दूध छुड़ाकर बोतल का दूध शुरू कर देना चाहिये अथवा माता के दूध पी चुकने के बाद कुछ बोतल का दूध भी पिला देना चाहिये। कई देशों में शिशु के लिये ऐसी नर्स का प्रबन्ध किया जाता है जो शिशु को अपना दूध पिला सके। पर इसमें कई बार छूत के रोगों के होने की सम्भावना रहती है।

ऊपर का दूध पीनेवाले शिशुओं को यह कष्ट इसलिये हो जाता है कि उनको दिये जानेवाले दूध की मात्रा कम होती है अथवा दूध पिलाने का समय विभाजन अशुद्ध होता है। कभी-कभी बोतल की निपल में सुराख छोटा होने के कारण शिशु को दूध पीने में कठिनाई होती है। पेट भरे बिना ही वह थककर बोतल छोड़ देता है। ऊपर के दूध के पतले होने से भी यह रोग हो जाता है।

ऐसी दशा में दूध की मात्रा तथा गुण (Quality) को शुद्ध कर लेना चाहिये विभाजन को भी ठीक कर लेना चाहिये। सबसे अच्छा उपाय यह है कि किसी

योग्य चिकित्सक की राय ले ली जाय । साथ ही मल्टी विटामिन ड्राप्स (Multi Vitamin Drops) अथवा एबडिक ड्राप्स (Abdec Drops) देना भी उत्तम है।

(२) अधिक आहार (Over feeding)—

कभी-कभी मातायें शिशु को आवश्यकता से अधिक भोजन देने लगती हैं। क‍ई बार ऐसा भी होता है कि डब्बे का दूध देते समय मातायें उसमे आवश्यकता से कम पानी मिलाती हैं जिसे पचाने में शिशु को कष्ट होता है। जो बच्चे माता का दूध पीते हैं सामान्यतया उन्हें यह कष्ट नही होता क्योंकि न तो माता का दूध आवश्यकता से अधिक होता है और न ही अधिक गाढ़ा होता है। आरम्भ में यह पता नही चलता कि शिशु को अधिक आहार दिया जा रहा है क्योंकि इससे शिशु के वजन में तीव्रता से वृद्धि होती है, शुरू-शुरू में टट्टी ठीक आती है पर विशेष समय पर टट्टी की मात्रा अधिक हो जाती है पर धीरे-धीरे पतले और बूदार दस्त आने लगते है। कभी-कभी दूध पिलाने पर उल्टी हो जाती है। पेट बढ़ने लगता है और उसपर सूजन आ जाती है। शिशु को अक्सर शूल होने लगता है और फिर वजन गिरना शुरू हो जाता है।

ऐसे शिशु को सबसे पहले एक चम्मच पैराफीन लीक्विड पिला कर उसका अमाशय साफ कर लेना चाहिये। उसके बाद दूध पतला करके देना चाहिए। कुछ डाक्टरो का मत है कि दूध की मात्रा कम कर देनी चाहिये पर जैसा कि डाक्टर विल्फ्रिड शैलडन (Wilfrid Sheldon) का मत है कि ऐसा करने से शिशु असन्तुष्ट होगा। शिशु दूध की पवित्रता में कमी तो सहन कर सकता है पर मात्रा की कमी सहन नही करता। भोजन में कमी करने का सरल उपाय यह है कि प्रत्येक बार दूध देने से पहले आधा छटांक उबला हुआ पानी पिला दिया जाय। फिर भी आहार के तत्वों में कमी करने से पहले डाक्टर की राय ले लेना अधिक अच्छा है।

(३) आहारिक श्यामलवात (Nutritional Anaemia)—

आहार के तत्वों में लौह की कमी के कारण कभी-कभी शिशु को रक्त की कमी हो जाती है। शरीर और मुख पीला पड़ जाता है और प्लीहा अर्थात तिल्ली (spleen) बढ़ जाती है। खांसी आने लगती है पर सामान्यतः वजन साधारण रहता है।

इस रोग में लौह (Iron) की कमी को दूर करना अत्यावश्यक है। हरी सब्जियां, साग, शोरबा देना चाहिये। मांसाहारी परिवारों के शिशुओं को कलेजी का रस देना उत्तम है। कई बार रोग के अधिक बढ़ जाने से बाहर से रक्त (Blood Transfusion) देना पड़ता है। इस रोग में डाक्टर की राय लेना अत्यावश्यक है।

(४) आहारिक अपच (Nutritional Indigestion)—

कई बार भोजन में किसी विशेष तत्व के आवश्यकता से अधिक होने के कारण शिशु को अपच अथवा बदहजमी हो जाती है। सामान्यतः अपच का कारण यह होता

है कि शिशु के आहार में प्रोटीन, फैट अथवा कार्बोहाइड्रेट आवश्यकता से अधिक होते हैं।

प्रोटीन की बदहजमी—

इसमें शिशु को दही के समान कै होने लगती है और कै में काफी लासा (Mucus) होता है। कभी-कभी शिशु शूल के कारण चिल्लाने लगता है। उसे कब्ज हो जाती है और उसकी टट्टी में हरे रंग की दही जैसा पदार्थ दिखाई देता है। इस कष्ट के कारण शिशु का वजन गिरने लगता है।

प्रोटीन की बदहजमी में शिशु के भोजन से पनीर (Casein) पूर्णतया निकाल देना चाहिए। साधारणतया दूध में पानी मिलाकर देने से काम चल जाता है। दूध में सोडा साइट्स (Soda Citras) मिलाकर भी दिया जा सकता है। एक औंस दूध में दो ग्रेन अर्थात् आधी छटाँक दूध में १ रत्ती सोडा साइट्स डालना चाहिये। रोगी को दूध फाड़कर उसका पानी देना भी अच्छा है।

चिकनाई (फैट) की बदहजमी –

आहार में चिकनाई (फैट) के अधिक होने के कारण भी शिशु को बदहजमी हो सकती है। आरम्भ में शिशु को साबुन की झाग के समान और पीले रंग की टट्टी आती है। यह टट्टी काफी ठोस होती है। शिशु को इस टट्टी को बाहर निकालने में कठिनाई और पीड़ा होती है। बदबूदार पेशाब आता है और शिशु का वजन गिरने लगता है।

ऐसी स्थिति में सबसे पहले शिशु को एक चम्मच पैराफीन लीक्विड पिलाकर उसकी अँतड़ियाँ साफ कर लेनी चाहिये। शिशु के भोजन से चिकनाई के पदार्थ निकाल देने चाहिये। शिशु को मलाई उतरा हुआ दूध देना चाहिये। यदि शिशु के चूतड़ लाल हो गये हों तो वहाँ जिंक की मरहम लगा देनी चाहिये।

कार्बोहाइड्रेट की बदहजमी:—

कार्बोहाइड्रेट की बदहजमी में आँतों में गैस के इकट्ठे हो जाने के कारण पेट फूल आता है और कभी-कभी टट्टी करते समय शिशु की तूँ निकल जाती है। शिशु को शूल होने लगता है और पतले-पतले हरे रंग के दस्त आने लगते हैं। अधिक उग्र बदहजमी में कै भी आने लगती है। चूतड़ सूज जाते हैं और वजन गिरने लगता है।

आरम्भ में शिशु को एक चम्मच पैराफीन लीक्विड पिला देना चाहिये। दूध में पानी मिलाकर देना चाहिए। भोजन से कार्बोहाइड्रेट और मैदा आदि निकाल देना चाहिये।

योग्य चिकित्सक की राय ले ली जाय । साथ ही मल्टी विटामिन ड्राप्स (Multi Vitamin Drops) अथवा एबडिक ड्राप्स (Abdec Drops) देना भी उत्तम है ।

(२) अधिक आहार (Over feeding):—

कभी-कभी मातायें शिशु को आवश्यकता से अधिक भोजन देने लगती हैं । कई बार ऐसा भी होता है कि बच्चे का दूध देते समय मातायें उसमें आवश्यकता से कम पानी मिलाती हैं जिसे पचाने में शिशु को कष्ट होता है । जो बच्चे माता का दूध पीते हैं सामान्यतया उन्हें यह कष्ट नहीं होता क्योंकि न तो माता का दूध आवश्यकता से अधिक होता है और न ही अधिक मात्रा होता है । आरम्भ में यह पता नहीं चलता कि शिशु को अधिक आहार दिया जा रहा है क्योंकि इससे शिशु के वजन में शीघ्रता से वृद्धि होती है. शुरू-शुरू में टट्टी ठीक आती है पर विशेष समय पर टट्टी की मात्रा अधिक हो जाती है पर धीरे-धीरे पतले और बूदार दस्त आने लगते हैं । कभी-कभी दूध पिलाने पर उल्टी हो जाती है । पेट बढ़ने लगता है और उसपर सूजन आ जाती है । शिशु को अक्सर शूल होने लगता है और फिर वजन गिरना शुरू हो जाता है ।

ऐसे शिशु को सबसे पहले एक चम्मच कैराफीन लीक्विड पिला कर उसका आमाशय साफ कर लेना चाहिये । उसके बाद दूध पतला करके देना चाहिए । कुछ डाक्टरों का मत है कि दूध की मात्रा कम कर देनी चाहिये पर जैसा कि डाक्टर विल्फ्रिड शैल-डन (Wilfrid Sheldon) का मत है कि ऐसा करने से शिशु असन्तुष्ट होगा । शिशु [illegible] की पवित्रता में कमी तो सहन कर सकता है पर मात्रा की कमी सहन नहीं करता । भोजन में कमी करने का सरल उपाय यह है कि प्रत्येक बार दूध देने से पहले आधा छटांक उबला हुआ पानी पिला दिया जाय । फिर भी आहार के तत्वों में कमी करने से पहले डाक्टर की राय ले लेना अधिक अच्छा है ।

(३) आहारिक क्षयरक्तता (Nutritional Anaemia)—

आहार के तत्वों में लोह की कमी के कारण कभी-कभी शिशु को रक्त की कमी हो जाती है । शरीर और मुख पीला पड़ जाता है और प्लीहा अर्थात तिल्ली (spleen) बढ़ जाती है । खाँसी आने लगती है पर सामान्यतः वजन साधारण रहता है ।

इस रोग में लोह (Iron) की कमी को दूर करना अत्यावश्यक है । हरी तरकारी, साग, शोरबा देना चाहिये । मांसाहारी परिवारों के शिशुओं को कलेजी का रस देना उत्तम है । कई बार रोग के अधिक बढ़ जाने से बाहर से रक्त (Blood Transfusion) देना पड़ता है । इस रोग में डाक्टर की राय लेना अत्यावश्यक है ।

(४) आहारिक अपच (Nutritional Indigestion)—

कई बार भोजन में किसी विशेष तत्व के आवश्यकता से अधिक होने के कारण शिशु को अपच अथवा बदहजमी हो जाती है । सामान्यतः अपच का कारण यह होता

पानी की कमी को दूर करने के लिये उसे पर्याप्त पानी पिलाना चाहिये। हर घ
आधा छटाक ग्लूकोज का पानी (१ प्रतिशत) या अण्डे की सफेदी पानी में मिलाकर दे
चाहिये। शिशु को भोजन देना धीरे धीरे शुरू करना चाहिये और थोड़ा-थोड़ा कर
देना चाहिये। आरम्भ में ताजे दूध से मलाई उतरा हुआ दूध अधिक श्रेष्ठ है। दस्त
की दशा मे शिशु को कच्चे सेब देना भी अच्छा है।

(३) पेचिस (Dysentery)—

शैशव काल में पेचिस होने के कारणों में भोजन का असन्तुलन तथा छूत मुख्य है
इस रोग में शिशु को पेट में पीड़ा होती है और जल्दी-जल्दी पतले दस्त आने लगते हैं
टट्टी मे आंव और खून भी आने लगता है। कभी-कभी १०३° से १०४° तक बुखा
हो जाता है।

पेचिस में शिशु को पतला भोजन देना चाहिये। पानी, जौ का पानी, बिना
दूध और अरारूट के अतिरिक्त सामान्यत: कुछ नहीं देना चाहिये। कच्चे सेब सेक
छील लेने चाहिये और छीला हुआ सेब शिशु को खाने को देना चाहिये। दवाओं
पेचिस के लिये एन्टरो-वायोफार्म (Enterovioform) एन्टरो-कार्ब (Entero
carb) अथवा डाईसेन्ट्रिनडान (Dysentrindon) सर्वोत्तम है। पेचिस के रोग
को शीघ्र ही किसी डाक्टर को दिखा लेना उत्तम है।

(४) कै अथवा वमन (Vomiting)—

शैशव मे उल्टी आने के कई कारण हो सकते हैं। बदहजमी के कारण दस्त औ
कै आने लगते हैं। पेट मे वायु भर जाने से भी उल्टी होने लगती है।

कै की दशा में दो घण्टे तक शिशु को कुछ भी खाने को नहीं देना चाहिये। हाँ
यदि वह पानी मांगे तो ½ औंस (½ छटांक) पानी पिलाया जा सकता है धीरे-धीरे पान
की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। पानी में बरफ डालकर देना अथवा बरफ चुसाना उत्त
है। यदि तब भी कै बन्द न हो तो किसी डाक्टर की राय लेना परमावश्यक है।

(५) पेट में वायु (Aerophagy)—

जब शिशु भोजन के साथ वायु भी निगल जाता है तो उसे यह रोग हो जात
है। अधिकतर वायु निगल जाने का कारण यह होता है कि निपल का सुराख छोट
हो। अंगूठा चूसनेवाले शिशु भी काफी वायु निगल जाते है। पेट मे वायु भर जा
के कारण शिशु को काफी कष्ट होता है और कभी-कभी शूल भी हो जाता है।

ऐसी दशा में पानी में थोड़ा-सा मीठा सोडा मिलाकर पिला देने से वायु निकल जाती है पेट में अधिक दर्द हो तो उसे गर्म पानी की बोतल से सेंक देना भी लाभदायक है।

(६) शूल (Colic Pain)—

असन्तुलित भोजन शूल को उत्पन्न करता है। पेट में वायु, कब्ज आदि भी इसके कारण हो सकते हैं। सामान्यतः शूल अकस्मात आरम्भ हो जाता है और शिशु बड़े जोर-शोर से चिल्लाने लगता है। उसे कब्ज हो जाती है अथवा उसे पतली, हरी और दही जैसी टट्टी आती है।

शूल की दशा में सर्व-प्रथम शिशु के पेट को सेंक करना चाहिये। कभी-कभी ग्लिसरीन की बत्ती या गर्म पानी का अनीमा भी शिशु को आराम देता है। उग्र शूल की दशा में शिशु को गर्म पानी से स्नान करा देना लाभदायक है। भविष्य में शूल को रोकने के लिए उसके आहार को सन्तुलित करना परमावश्यक है।

(ग) चर्म रोगः—

(१) खजुली (Scalies)—

इस रोग में त्वचा पर छोटी-छोटी फुंसियां निकल आती हैं। उनका मुंह काले रंग का होता है और बड़े जोर से खजुलाहट होती है। यह छूत का रोग है और शीघ्रता से एक दूसरे को हो जाता है। हाथों, कलाई, पेट आदि अंगों पर अधिकतर होता है।

खजुली में शरीर पर गन्धक (Sulphur) लगानी चाहिए। बराबर वैसलीन अथवा तेल में गन्धक मिलाकर लगातार तीन रात शरीर पर इसका लेप करना चाहिए। चिकित्सा के इन तीन दिनों में वस्त्र तथा बिस्तर नहीं रखना चाहिये। इन दिनों स्नान नहीं करवाना चाहिये। चौथे दिन गर्म पानी और टेटमासोल (Totmasol) साबुन से स्नान करवा कर वस्त्र और बिस्तर बदल देने चाहिये। यदि इससे खजुली ठीक न हो तो एस्केबियाल (Ascabiol) नाम की दवा का प्रयोग किया जा सकता है।

(२) दाद (Ring Worm)—

दाद दो प्रकार की होती है—शरीर की त्वचा की दाद और सिर की त्वचा की दाद शारीरिक दाद में शरीर पर गोल-गोल चकत्ते पड़ जाते हैं और उनमें खजुलाहट होती है। यह छूत का रोग है। सामान्यतः शिशुओं को यह रोग बिल्लियों अथवा कुत्तों से मिलता है। सिर की दाद भी छूत का रोग है और कंघी, टोपियां आदि के द्वारा एक से दूसरे को मिलता है।

दाद पर गरी का तेल लगाने से खजुलाहट कम हो जाती है पर स्थायी चिकित्सा के लिये डाक्टर के पास जाना आवश्यक है।

(३) फुंसियां (Boils)—

इस रोग में शरीर पर छोटी-छोटी फुंसियां निकल आती हैं जिनका रंग कुछ भूरा और कुछ शहद जैसा होता है। यह रोग भी छूत से फैलता है।

फुंसियों पर जिंक की मरहम लगानी चाहिये और किसी डाक्टर की राय ले लेनी चाहिये।

(४) गरमी की फुंसियां (Prickly Heat)—

ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ में अक्सर बच्चों को पित्त (अमहौरी) निकल आती है। शरीर पर छोटे-छोटे दाने निकल आते हैं और उनमें जलन होती है।

रोगी के शरीर पर पानी में घुले चाक अथवा दुद्धी या गाचनी का प्रयोग करने से यह रोग सामान्यतः ठीक हो जाता है। इसके लिये कैलाड्रिल (Caladryl) बहुत उत्तम है।

(५) उलावत (Eczema)—

आरंभ में शरीर पर लाल-लाल ददोरे पड़ जाते हैं और कभी हो जाते हैं और कभी ठीक हो जाते हैं। शिशु की गालों पर यह रोग अधिक होता है। पर धीरे-धीरे शरीर के दूसरे भागों में भी हो जाता है।

रोगी के शरीर पर जिंक की मरहम या बैनाड्रिल क्रीम (Benadryl Cream) लगानी चाहिये और शीघ्र ही किसी डाक्टर से चिकित्सा करवानी चाहिये।

(६) आवेश अथवा ऐंठन—

आवेश में शिशु का शरीर ऐंठ जाता है, आंखें ऊपर को चढ़ जाती हैं, दांत इसकर बन्द हो जाते हैं। शरीर कांपने लगता है और झटके आने लगते हैं। सांस भारी हो जाता है। मुंह में झाग आ जाती है। अक्सर शिशु को मूर्छा आ जाती है और कभी-कभी वह बेहोशी में बड़बड़ाता भी है।

इस रोग का कारण मानसिक उत्तेजना है। मस्तिष्क में चोट लगने से भी यह रोग हो जाता है। जीवन के प्रारम्भिक दिनों में आवेश आने का कारण मस्तिष्क की चोट ही है। जीवन के पहले वर्ष में विटामिन डी की कमी से भी ऐसा हो सकता है।

वर्ष की आयु में सामान्यतः खांसी, बुखार, जुखाम, सरदी अथवा गले की
से यह रोग होता है। कई शिशुओं को बुखार आदि स्पष्ट कारणों के बिना
र आवेश आने लगते हैं। इसे मृगी (Epilepsy) कहा जाता है।
वेश की दशा में तत्काल ही डाक्टर को बुलवा भेजना चाहिये। डा०कैनियन और
न का मत है कि डाक्टर के पहुँचने से पहले प्रारंभिक चिकित्सा (first aid)
प में शिशु को १०२° गरम पानी में स्नान करवाना चाहिये। पर सिर पर बरफ
थैली (Ice Bag) रखना चाहिये।

बाल-शिक्षा

रेमॅट के अनुसार शिक्षा विकास का वह क्रम है जिससे मनुष्य अपने को आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा अध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है। शिक्षा जन्म से मृत्यु तक होनेवाला विकास है। शिशु ऐसे मांस पिण्ड के रूप में जन्म लेता है जो न बोल सकता है न चल सकता है और न ही जिसे अपने वातावरण का कुछ ज्ञान होता है, शिक्षा ही उसे वह शक्ति प्रदान करती है जिससे वह अच्छे से अच्छा भाव प्रकट कर सकता है और महान से महान कार्य कर सकता है। यद्यपि मानव विकास पर बहुत से जन्मजात तत्वों का प्रभाव पड़ता है फिर भी उसका निर्माण मुख्यतः उस वातावरण पर निर्भर रहता है जिसमें उसका पालन-पोषण और शिक्षा दीक्षा होती है।

शिक्षा के द्वारा व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा उसके संवेगों का शोधन होता है। इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति के व्यवहारों में परिवर्तन लाकर उसे चरित्रवान बनाती है। इस प्रकार व्यक्ति की शिक्षा का आधार प्रवृत्तियां और संवेग हैं। बालक की सबसे तीव्र प्रकृति खेलने की होती है। दूसरी ओर हमारे यहाँ के विद्यालयों का संगठन ऐसा है कि बालक अपने को वहाँ बन्दी समझता है, पर यदि बालक की खेलों को ऐसा बना दिया जाय जो क्रीड़ा के साथ-साथ ज्ञान भी दें तो कितना अच्छा हो। बालक की शिक्षा पर दण्ड और पुरस्कार का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रस्तुत अध्याय में बालक की शिक्षा के सन्दर्भ (Context) में संवेग, खेल और दण्ड तथा पुरस्कार का अध्ययन किया जायगा।

१. संवेग

बालक की शिक्षा में संवेगों का विशेष महत्व है। शिक्षा का उद्देश्य चरित्र गठन है, चरित्र गठन स्थायी भावों द्वारा हो सकता है और स्थायी भावों का निर्माण विशिष्ट संवेगों के आधार पर होता है। चरित्र गठन के लिये शिक्षा द्वारा संवेगों का नियन्त्रण करना नितान्त आवश्यक है। क्रोधी अथवा कायर व्यक्ति समाज में सम्मान नहीं पा सकते इसलिये मूल प्रवृत्तियों की भाँति संवेगों का भी शोधन अथवा मार्गान्तिरीकरण करना पड़ता है। संवेगों के नियन्त्रण का सबसे अच्छा उपाय अध्यवसाय अथवा परिश्रम (Industriousness) बताया गया है। विलियम जेम्स ने कहा है कि "क्रोध में कोई बात कहने से पहले दस बार गिनो।" इसी प्रकार किसी भी संवेग की तीव्रता को कम करने के लिये किसी अन्य कार्य में लग जाना चाहिये। शिशु को इस प्रकार

[illegible]क्षा मिलनी चाहिये कि वह अपने संवेगों पर स्वयं नियन्त्रण रख सके, क्योंकि चरित्र निर्माण का यही केवल एक उपाय है।

इस छोटे से खण्ड में सभी संवेगों के संबंध में बताना असम्भव है, इसलिये हम केवल तीन प्रमुख संवेगों—प्रेम (Love), भय (Fear) और क्रोध (Anger) पर प्रकाश डालने का प्रयास करते हैं।

(क) प्रेम (Love):—

शिशु को केवल प्रेम ही शिक्षा दे सकता है। शिशु जिसे प्रेम करता है, उसका [अ]नुकरण भी करना चाहता है। इस प्रकार उससे वह सीखने का प्रयास करता है। [च]मका वह प्रिय व्यक्ति हो उसकी मूल-प्रवृत्तियों और संवेगों का शोधन करके उसके स्थायी भावों के निर्माण में सहायक हो सकता है और इस प्रकार प्रेम के द्वारा ही व्यक्ति के चरित्र का निर्माण किया जा सकता है और इसी प्रकार प्रेम ही बालक के व्यवहारों को सभ्य और सुसंस्कृत बना सकता है।

विद्यालय के पुस्तकीय विषयों के शिक्षण में भी प्रेम का बहुत महत्व है। दृष्टान्त स्वरूप इतिहास पढ़ाते समय शिक्षक इतिहास के अच्छे पात्रों के प्रति बालक के स्वा-भाविक प्रेम को सद्गुणों के प्रति स्थायी भाव बनाने में प्रयुक्त कर सकता है।

(—) भय (Fear):—

शिक्षा में शिशु के भयों का बहुत महत्व है। शिशु में यदि कोई भय उत्पन्न हो [ग]या तो वह उसके निवारण का प्रयत्न करता है और यही प्रयत्न उसे शिक्षा का इच्छुक [ब]ना देता है। तीन वर्ष का शिशु लिंग सम्बन्धी भयों से ग्रस्त होता है, इस प्रकार [उ]सकी यौन शिक्षा का आधार भय का संवेग ही है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि [शि]शु में जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिये इसे भयभीत किया जाय। भय का संवेग तो पलायन की मूल-प्रवृत्ति को जागृत करता है। बालक जिस व्यक्ति अथवा वस्तु से भय खायेगा उससे वह दूर भागेगा। इस प्रकार माता-पिता से भय खानेवाला बालक माता-पिता से कभी शिक्षा प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेगा। उसकी इच्छा तो उनसे दूर रहने की होगी। इसी प्रकार जिस वस्तु से बालक भय खायेगा, उसके विषय में बात करने पर भी उसका भय जागृत हो जाएगा। शिक्षा देने से पहले बालक के भय का निवारण करना आवश्यक है। यौन-सम्बन्धी शिक्षा के समय भी हम उसके भयों का निवारण करते हैं। भय समाप्त होने पर शिक्षा क्रम सुचारु रूप से चलेगा।

शिक्षा देने से पहले वातावरण को भयहीन करना परमावश्यक है। प्रस्तुत लेख[क] जब पहली बार विद्यालय ले जाया गया तो उसने पहला दृश्य वहाँ यह देखा [कि] अध्यापक बालकों को डंडे से पीट रहा है, इस पर वह भयभीत होकर भाग खड़ा हु[आ] और फिर दो वर्ष तक उसने स्कूल आने का नाम तक न लिया। भारतीय विद्याल[य]

का वातावरण इतना भयानक है कि बालक वहाँ जाने से घबराते हैं। इस सम्बन्ध में एक चुटकुला प्रसिद्ध है कि एक बालक पिता के साथ कहीं घूमने जा रहा था। मार्ग में उन्होंने एक आदमी को एक बकरा घसीट कर ले जाते हुये देखा। बकरा बड़े जोर-जोर से चिल्ला रहा था। बालक ने पिता से पूछा कि बकरा किस कारण चिल्ला रहा है। पिता ने बताया कि यह आदमी कसाई है और वह बकरे को मारने के लिये कसाईघर ले जा रहा है इसीलिये बकरा चिल्ला रहा है। इस पर बालक ने कहा,—"इसमें चिल्लाने की कौन-सी बात है, मैं तो समझा था कि वह आदमी उसे स्कूल ले जा रहा है।" इससे स्पष्ट है कि भारतीय बालक स्कूल को कसाईघर से भी अधिक भयानक समझते हैं। यह हर्ष का विषय है कि अध्यापकों की यह धारणा कि "बालक दण्ड के बिना सुधर नहीं सकता" (Spare the rod and spoil the child) की ये भावना बहुत कुछ बदलती जा रही है। अब शिक्षा के लिये बाल मनोविज्ञान का अध्ययन आवश्यक हो गया है।

(ग) क्रोध (Anger) :—

शिक्षा देते समय न तो अध्यापक को क्रोध करना चाहिए और न ही उसे बालक को क्रोधित करना चाहिये। सामान्यतः यदि कोई बात समझाने पर बालक की समझ में न आये तो अध्यापक (जिनमें माता-पिता भी सम्मिलित हैं) को क्रोध आ जाता है और वह बालक को डांट फटकार कर अथवा दण्ड देकर अपना क्रोध उतारता है। पर यह पूर्णतः अन्याय है। बालक की समझ में जब कोई बात नहीं आती तो इसका कारण यह है कि अध्यापक उसे उसी के बौद्धिक स्तर के अनुसार समझा नहीं पा रहा है। इसमें उस बेचारे का क्या दोष। इसी प्रकार कई बार बालक माता-पिता से ऐसे प्रश्न पूछ बैठता है जिनका उत्तर या तो वे जानते नहीं और या बताना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में वे बालक के प्रति क्रोध प्रदर्शित करते हैं।

बालक को क्रोधित करना भी शिक्षा की दृष्टि से हानिकारक है। क्रोध से कुछ समय के लिए उसकी शारीरिक शक्ति अवश्य बढ़ जाती है पर इससे उसके मन पर दूषित प्रभाव पड़ता है। क्रोध लड़ने की मूल-प्रवृत्ति को जागृत करता है पर बालक बेचारा माता, पिता अथवा अध्यापक से लड़ाई मोल नहीं ले सकता। इसलिये उसे लड़ने की इच्छा को बलपूर्वक दबाना पड़ता है वह कुढ़ने लगता है और मूल प्रवृत्तियों का दमन-चरित्र के लिये घातक ही है। शिशु का क्रोध केवल एक बात के लिये जागृत करना लाभदायक है। बुरी बातों के प्रति संघर्ष करने का स्थायी भाव बनाने के लिये उसके मन में उनके लिये क्रोध जागृत किया जा सकता है।

२ खेल

लालजीराम शुक्ल के अनुसार "खेल एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति है जो उच्च वर्ग के

सभी प्राणियों में पाई जाती है । विकास परंपरा में जिस प्राणी का जितना ऊँचा स्थान है उतना अधिक उसके जीवन का काल खेल में जाता है" मनुष्य ही सब प्राणियों में उच्च स्थान रखता है । इसीलिये तो शीलर ने कहा है कि मनुष्य का मनुष्यत्व खेलने में ही है । खेल एक ऐसा कार्य है जिसे हम स्वतन्त्र रूप से करते हैं और जिसका ध्येय खेल के सिवा और कुछ नहीं होता ।

पर क्या बालक भी केवल खेलने के लिये ही खेलता है, या उसका कोई विशेष उद्देश्य होता है ? हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spancer) का मत है बालक खेलने में स्वतन्त्र नहीं, वह अपनी खेलने की मूल प्रवृत्ति के वशीभूत होकर खेलता है। प्रकृति उसे इसलिये खेलने पर विवश करती है कि उसमें आवश्यकता से अधिक उत्पन्न हुई शक्ति का व्यय हो जाय। इस प्रकार स्पेंसर ने बालक के खेल की तुलना बायलर Boiler) के सेफ्टी वाल्व (Safety Volve) से की है। बायलर में आवश्यकता से अधिक भाप एकत्रित होने पर उसके फट जाने का भय होता है इसलिये उसपर एक सेफ्टी वाल्व लगा रहता है जो आवश्यकता पड़ने पर अतिरिक्त वाष्प शक्ति को बाहर निकाल देता है। इसी प्रकार बालक में जब आवश्यकता से अधिक शक्ति का सृज[illegible] हो जाता है तो उसकी रक्षा के लिये प्रकृति उसे खेलने पर विवश करती है । पर य[illegible] मत भ्रमात्मक है । बायलर का सेफ्टी वाल्व जिस भाप को बाहर फेंकता है उससे को[illegible] लाभ नहीं होता पर बालक का खेल तो उसके ज्ञान, चरित्र और व्यक्तित्व के निर्मा[illegible] महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। दूसरे बालक थका हुआ हो और इस प्रकार उसमें शक्ति[illegible] कमी हो तो भी वह खेल कर चुस्त हो जाता है अर्थात उसमें शक्ति की वृद्धि होती [illegible] इसलिये खेल को शक्ति के व्यय का साधन कहना मिथ्या है । मैकडूगल ने यह[illegible] लगाया था कि बालक केवल तभी नहीं खेलता जबकि उसमें स्फूर्ति भरी हो वह तब खेलता है जब कि वह थका हुआ हो। तीसरे खेल के उपरान्त सामान्यतः बालक को[illegible] लग जाती है, जो इस बात का प्रमाण है की उसके भीतर शक्ति की आवश्यकता[illegible] खेल यदि सेफ्टी वाल्व होता तो केवल अतिरिक्त शक्ति के व्यय के कारण उसे भूख[illegible] अनुभव न होता । कार्लग्रूस का कहना है कि बालक अपनी क्रीड़ाओं में बड़ों का[illegible] करण करता है और इस प्रकार वह खेल के द्वारा जीवन के संग्राम की तैयारी करत[illegible] मनोवैज्ञानिकों में यह मत सर्वमान्य है । बालक इसलिये नहीं खेलता कि[illegible] सरल है वह इसलिये खेलता है कि खेलना कठिन है । जिस प्रकार हाई [illegible] विद्यार्थी ज्यामिति (Geometry) इसलिये पढ़ता है कि बाद में वह जीवन [illegible] आये, उसी प्रकार बालक इस लिये खेलता है कि वह बाद के जीवन के लि[illegible] को दीक्षित कर ले । शिक्षा की दृष्टि से बालकों के खेल का महत्व इस बा[illegible] स्पष्ट है कि खेलने का उद्देश्य शिक्षा प्राप्त करना है :

लालजीराम शुक्ल ने खेलों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

खेलों के इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि खेलों का उद्देश्य शिक्षा प्राप्त करना ही है। ६ मास से २ वर्ष की आयु तक शिशु शारीरिक खेल खेलता है। इस प्रकार वह चलने-फिरने, हाथ-पाँव मारने, उछलने-कूदने, चढ़ने-उतरने की क्रियाओं को सीखता है और उनका अभ्यास करता है। २-५ वर्ष की आयु में उसके खेल ध्वंसात्मक तथा अनुकरणात्मक होते हैं। वह वस्तुओं को तोड़-फोड़कर उनका ध्वंस करता है, वास्तव में वह वस्तुओं के भीतर देखकर ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसी आयु में वह अनुकरण के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की चेष्टा करता है। चोर, सिपाही, डाक्टर मरीज बनकर बालक उन क्रियाओं का अभ्यास करते हैं जो वे वास्तविक चोर, सिपाही या डाक्टर और रोगी को करते देखते हैं।

माता-पिता को चाहिये कि वे उसे अपने स्तर पर खेलने दें। वे जब उसे की क्रिया गलत करते देखते हैं तो उसे बताते हैं कि 'ऐसे नहीं ऐसे करो।" पर यह अमनो वैज्ञानिक है। बालक अपनी ही विधि से खेलना चाहता है और वह उसमें किसी भी हस्तक्षेप को पसंद नहीं करता। समय आने पर अनुकरण के द्वारा वह स्वयं अपनी त्रुटि

।

…शिक्षा प्रणालियों में खेलों के महत्व को स्वीकार किया जा रहा है—

है कि बालक को अनुशासन में रखने के उपलक्ष में पुरस्कार के रूप में उसे कुछ दिया जाये जिससे उसे अच्छे कार्य करने को प्रोत्साहन मिले। तीसरी विधि भय के ऊपर आधारित है। बालक को दण्ड का भय देकर उसे गलत कार्य करने से रोका जा सकता है। दण्ड के सम्बन्ध में संक्षेप में हम चरित्र निर्माण के पाठ में बता आये हैं। फिर भी प्रस्तुत खण्ड में हम पुरस्कार और दण्ड का सविस्तार विवेचन करेंगे।

(क) पुरस्कार:—

बालक को नियन्त्रित रखने के लिये उसे पुरस्कार का लालच दिया जा सकता है। पुरस्कार की यह युक्ति स्कूल कार्य में उन्नति के लिये प्रोत्साहन देने के सम्बन्ध में भी काम में लाई जा सकती है। पुरस्कार के कई रूप हैं:—

(१) प्रशंसा
(२) उपयोगी वस्तुएँ अथवा धन
(३) विशेष सुविधाएँ
(४) पदक (Medal)
(५) प्रमाण-पत्र

माता-पिता बालक को शिक्षित करने के लिये पुरस्कार की पहली तीन विधियों का प्रयोग कर सकते हैं विशेषकर उन्हें पहली विधि का उपयोग तो अवश्य ही करना चाहिये। बालक जब कोई अच्छा कार्य करे तो माता-पिता को उसकी भूरी-भूरी प्रशंसा करनी चाहिये। अध्यापकगण पुरस्कार की अन्तिम दो विधियों का भी उपयोग कर सकते हैं पदक अथवा प्रमाण-पत्र का लालच बालक को स्कूल कार्य में परिश्रम करने का उत्साह देता है।

पुरस्कारों तथा पारितोषिकों के द्वारा उत्पन्न की हुई रुचि बाहरी है। हो सकता है कि बालक पुरस्कार तथा पारितोषिक पाते हैं वे इस लालच के छूट जाने पर अनि-च्छित हो जायें। जिन बालकों को सदा पुरस्कार का लालच दिया जाता है वे अच्छे कामों का भी मूल्य आँकने लगते हैं। बड़े होकर वे केवल वही कार्य करेंगे जिनसे उन्हें कुछ न कुछ आर्थिक लाभ है। चरित्र गठन के लिये जो सर्वश्रेष्ठ गुण नैतिकता है, वह ऐसे बालकों में नहीं आ सकता। हमारा वास्तविक ध्येय तो अच्छे कार्यों के लिए बालक के स्थायी भावों का निर्माण करना है। पर वास्तव के अनुसार पुरस्कार व्यक्ति को घूस-खोर बना देते हैं। इसलिए उत्तम यही है कि पुरस्कारों का प्रयोग कम ही किया जाय।

(ख) दण्ड:—

अनुशासन तोड़ने के बदले बालक को दण्ड दिया जाता है। जो बालक माता-पिता अथवा बड़ों की आज्ञा का पालन नहीं करते, स्कूल कार्य में रुचि नहीं लेते, स्वभावतः उन्हें ठीक मार्ग पर लाने के लिए दण्ड दिया जाता है। यह पुराना मत है

"दण्ड के बिना बालक बिगड़ जाता है।" आधुनिक मनोविज्ञान इस मत का खंडन करता है। दण्ड व्यक्ति को कुछ समय के लिए किसी कार्य के करने से रोक तो सकता है पर उसमें उचितानुचित की भावना को जागृत नहीं कर सकता। दण्ड देने से पहले यह जानना अत्यावश्यक है कि किस कारण शिशु ने अनुशासन तोड़ा है। कभी २ किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसे ऐसा कार्य करने को विवश होना पड़ता है जो अनजाने में अनुशासन का उलंघन कर देता है। बालक से कई कार्य ऐसे हो जाते हैं जिन पर उसका वश नहीं होता। बालक हाथ में प्लेट लिये जा रहा है, पर वह ठेस लगने के कारण गिर जाता है और प्लेट टूट जाती है। ऐसी दशा में उसे दण्ड देना क्या अनुचित नहीं?

पुरस्कार की भाँति दण्ड के भी कई रूप हैं—

(१) डाँट डपट
(२) दण्ड के रूप में दिया जाने वाला फालतू काम
(३) अर्थ दण्ड (जुर्माना) (स्कूल में जुर्माना अथवा घर में जेब खर्च में कटौती)
(४) शारीरिक दण्ड
(५) नैतिक दण्ड (बालक से क्षमा मंगवाना), कान को हाथ लगवाकर तोबा करवाना आदि)
(६) प्राप्त सुविधाओं की समाप्ति

दण्ड देने का उद्देश्य दण्ड अथवा बदला न होकर सुधार होना चाहिये। दण्ड यदि बालक को पहले से भी अधिक उद्दण्ड और ढीठ बना देता है तो वह हानिकारक है।

अधिकांश दण्ड अनुशासन को निर्बल कर देते हैं और न वे नैतिक भावना को जागृत ही करते हैं। इसलिये दण्ड का प्रयोग जितना कम किया जावे उतना अच्छा है। माता-पिता को और अध्यापकों को अनुशासन रखने के लिए बालक के स्तर पर उतर कर उससे युद्ध करने की अपेक्षा उसका मित्र और पथ प्रदर्शक बनने का प्रयास करना चाहिए।

शिशु-कल्याण

शिशु-कल्याण के सम्बन्ध मे अब तक हमने यह जानने का प्रयास किया है कि इसके लिये माता पिता का क्या कर्तव्य है। पर शिशु-विकास का उत्तरदायित्व केवल माता-पिता पर नहीं। प्रत्येक राज्य का यह परम-कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों के विकास के लिये भरसक प्रयत्न करे। राज्य की स्वतन्त्रता, जीवन और उन्नति नागरिकों के स्वास्थ्य, बुद्धि, चरित्र और व्यक्तित्व के विकास पर आश्रित है। इसीलिये राज्य का एक प्रमुख कार्य यह भी है कि वह अपने नागरिकों का विकास करे। पर क्या शिशु-कल्याण के बिना राज्य का यह ध्येय पूरा हो सकता है? नागरिक जीवन की नींव शैशव है इसीलिये अच्छी नागरिकता का निर्माण करने के लिए राज्य भी शिशु कल्याण मे योग देते हैं। आधुनिक विचारवान व्यक्ति तो यह समझते है कि शिशु-कल्याण मे सहायता देना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। इसीलिये अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें जैसे संयुक्त राष्ट्र-संघ (United Nations Organisation) और रेडक्रास सोसाइटी (Red-cross Society) आदि भी इस पवित्र कार्य में सहयोग देती हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आधुनिक शिशु कल्याणान्दोलनों (Modern movements of child-welfare) का विवेचन करने का प्रयास करेंगे।

१. शिशु-कल्याणान्दोलन का संक्षिप्त इतिहास :

शिशु-कल्याणान्दोलन को आरम्भ करने का श्रेय इंगलैंड (England) देश को है। १८७५ मे वहां की पार्लियामेंट (Parliament.) ने लोक स्वास्थ्य अधिनियम (Public Health Act) पास किया। इस अधिनियम का उद्देश्य जनता के स्वास्थ्य की रक्षा करना था। लगभग इसी समय फ्रांस मे शिशु-मन्त्रणागृह (Infant Consultations) स्थापित किये गये। कुछ वर्ष बाद बेल्जियम में माताओं के लिये विद्यालय (Schools for Mothers) खोले गये। धीरे-धीरे यह आन्दोलन और भी देशों में फैलने लगा और संसार के लगभग सभी देश यह अनुभव करने लगे कि उनके उत्थान के लिये यह आवश्यक है कि स्त्रियों मे इस विषय की शिक्षा का प्रसार किया जाय कि वे शिशुओं की देख-रेख किस प्रकार करें। उन्नीसवीं शताब्दी मे कुछ समाज सुधारकों ने यह भी प्रयास किया कि उद्योगों में शैशव के शोषण को रोका जाय। कुछ केन्द्रों मे शिशुओं मे दूध के मुफ्त वितरण की भी व्यवस्था की गई। धीरे-धीरे इस आन्दोलन के आधीन भावी माता की देख-रेख के लिये

भी केन्द्र स्थापित होने लगे। स्कूलों में बालकों के स्वास्थ्य की देख-भाल इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण कदम है।

शिशु कल्याण के इस आन्दोलन पर प्रथम महायुद्ध का बहुत ही स्वस्थ प्रभाव पड़ा। युद्ध में लगभग सभी देशों ने यह नियम बनाये कि प्रत्येक शिशु के जन्म को सरकारी रिकार्ड में दर्ज कराया जाय। युद्ध के उपरान्त धीरे-धीरे सभी देशों में स्वास्थ्य मंत्रालय (Health Ministries) स्थापित किये गये और इन्होंने शिशु कल्याण के लिए काफी कार्य किया। कुछ समय पश्चात स्थानीय संस्थायें भी शिशु के प्रति अपने कर्तव्यों के सम्बन्ध में जागरूक होने लगीं और अब उनके कार्यों में जच्चा-बच्चा के कल्याण का प्रबन्ध करना प्रमुख कार्य माना जाता है।

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त लीग आफ नेशन्स (League of Nations) नाम की एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित की गई जिसने और कामों के अतिरिक्त शिशु कल्याण की दिशा में भी कार्य करने की चेष्टा की। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त संयुक्त राष्ट्र संघ (·U. N. O.) की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की तीन विशेष शाखायें शिशु कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। उन संस्थाओं का नाम निम्नलिखित है—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शिशु संकटकालीन कोष (International childern's Emergency Fund)

(२) शिशुओं के लिये संयुक्तराष्ट्रीय प्रार्थना (United Nations Appeal for Children)

(३) विश्व स्वास्थ्य संघ (World Health Organisation)

पहली संस्था युद्ध पीड़ित शिशुओं की सहायता और सेवा करने के लिये राज्यों और अन्य संस्थाओं के दान द्वारा धन एकत्रित करती है। इस समय यह ४०-५० लाख शिशुओं के खान-पान का प्रबन्ध कर रही है। कुछ दिन पहले इसने लगभग ४ करोड़ बच्चों की तपेदिक के लिये जांच की है और इस रोग की रोक-थाम के लिये बी० सी० जी० के टीके लगाने का प्रबन्ध किया है।

दूसरी संस्था का निर्माण इसलिये हुआ कि यह धन एकत्रित करने में पहली की सहायता करे। यह संस्था राज्य सरकारों से चन्दा न लेकर सीधे नागरिकों से लेती है। इसके द्वारा एकत्रित धन का अधिकांश भाग पहली संस्था द्वारा व्यय होता है फिर भी यह शिशु कल्याण केन्द्रों की स्थापना जैसे अन्य कार्यों में भी धन का व्यय करती है।

विश्व स्वास्थ्य संघ देशों को स्वास्थ्य के सम्बन्ध में शिल्पिक (Technical) सहायता देता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और उसके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में रोगों की

प्रोत्साहित करता है, रोगों की रोक-थाम और औषधियों के गुण, पवित्रता और खुराक के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाता है। पर विश्व स्वास्थ्य संघ का मुख्य कार्य मलेरिया, तपेदिक की रोक-थाम और जच्चा-बच्चा के लिये कल्याण केन्द्रों की स्थापना करना है। इस संस्था ने अकाल, युद्ध तथा बाढ़ पीड़ित देशों को शिशुओं में वितरण करने के लिये मुफ्त दूध की व्यवस्था की है।

रैड क्रास सोसाईटी ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण काम किया है। इस संस्था ने दाइयों और नर्सों तथा स्वास्थ्य दर्शकों (Health Visitors) की दीक्षा (Training) के केन्द्र स्थापित किये हैं। इसके अतिरिक्त यह शिशु कल्याण केन्द्रों की स्थापना में काफी कार्य कर रही है।

२. ध्येय (Objects)

(क) बाल-मृत्यु को कम करना.—

कल्याणान्दोलन का सबसे मुख्य ध्येय बालमृत्यु को कम करना है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव-जीवन का महत्व बढ़ता जाता है। आज प्रत्येक देश यह भली-भाँति समझ चुका है कि उसका जीवन नागरिकों के अस्तित्व पर निर्भर है और आज के शिशु ही कल के नागरिक हैं। इसलिये बाल-मृत्यु को समाप्त करना इस आन्दोलन का सर्वश्रेष्ठ ध्येय होना ही चाहिये।

(ख) जीवित शिशुओं के स्वास्थ्य को उन्नत करना:—

बाल-मृत्यु को समाप्त करने के बाद दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य जीवित शिशुओं के स्वास्थ्य को उन्नत करना है। देखा गया है कि जिन देशों में बालमृत्यु दर अधिक होती है, वहाँ के शेष जीवित शिशु सामान्यतः रुग्ण रहते हैं। दृष्टान्त स्वरूप भारत को ही ले लीजिये। विश्व की प्रौढ़ समाज में भारत में सबसे अधिक बाल मृत्यु होती है। भारत में उत्पन्न होने वाले ५ बच्चों में से एक बच्चा अपने जीवन के प्रथम वर्ष समाप्त होने के पहले ही मर जाता है जबकि स्वीडन में पहले वर्ष प्रत्येक २० उत्पन्न शिशुओं में से एक मरता है। मृत्यु के चंगुल से बच जाने वाले शिशुओं का स्वास्थ्य भी कोई अच्छा नहीं होता। एक भारतीय का औसत जीवन २७ वर्ष है जबकि एक स्वीडन निवासी का ६६ वर्ष है। अतः केवल मृत्यु दर को घटा कर ही हमारा काम समाप्त नहीं हो सकता। फिर जीवित शिशुओं के स्वास्थ्य को उन्नत किये बिना मृत्यु दर घट भी नहीं सकती।

(ग) माता के स्वास्थ्य को उन्नत करना:—

क्या माता के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिये बिना बाल-मृत्यु को कम किया जा सकता है? क्या इस के बिना जीवित शिशुओं को स्वस्थ बनाया जा सकता है? दुर्बल, रुग्ण और अस्वस्थ माताएँ दुर्बल, रुग्ण और अस्वस्थ बच्चों को जन्म देती हैं। यदि व

स्वस्थ शिशु के जन्म दे भी दें तो साथ रहने और माता के दुग्ध पर आश्रित होने के कारण उसका स्वास्थ्य शीघ्र बिगड़ जाता है। तपेदिक कोढ़ आदि भयानक रोग शिशु को सामान्यत: उस रोग से पीड़ित, माता के सम्पर्क से ही मिलते हैं। इसलिये शिशु की उन्नति के लिये भावी और दूध पिलानेवाली माता के स्वास्थ्य को विशेष रूप से उन्नत करना परमावश्यक है।

(घ) स्वास्थ्य के सिद्धान्तों का प्रचार:—

शिशु-कल्याणान्दोलन का अन्तिम महत्वपूर्ण ध्येय लोगो को स्वास्थ्य सम्बन्धी सिद्धान्तों से अवगत कराना है। भारत में अधिकांश लोग इन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं और जिन्हें इनका ज्ञान है उनमे से भी अधिकांश इनका उल्लंघन करते हैं। जगह-जगह पर थूकना, सड़कों पर कूड़ा करकट फेंक देना आदि अनपढ़ लोगों की आदत में शामिल है। इस प्रकार वे उस वातावरण को अस्वस्थ और दूषित कर देते हैं जिसमें शिशु का पालन होता है इससे माता और शिशु दोनों के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है और बाल-मृत्यु दर बढ़ जाता है। शिशु-कल्याण के लिये यह परमावश्यक है कि हम वातावरण को शुद्ध बनायें। इसके लिये लोगों में स्वास्थ्य के नियमों का प्रचार अनिवार्य है। इसीलिये इस आन्दोलन ने प्रचार कार्य का उत्तर-दायित्व भी सम्हाल लिया है।

शिशु कल्याणान्दोलन के इन ध्येयो से स्पष्ट है शिशु के कल्याण के लिये सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न बाल-मृत्यु का है। इसलिये इस प्रश्न पर कुछ सविस्तार अध्ययन करना आवश्यक है।

३ बालमृत्यु (Infant Mortality)

शिशु-कल्याण की दृष्टि से बाल-मृत्यु का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है। अंक-शास्त्रियों (Statisticians) ने विभिन्न देशों में और समयों पर बाल-मृत्यु की तुलना करने के लिये बाल-मृत्यु दर (Infant Mortality Rate) निकालने की रीति का आविष्कार किया है। इसके लिये किसी विशेष वर्ष में १ वर्ष से कम आयु में मरे शिशुओं की कुल संख्या को १००० से गुणा करके, गुणनफल को उस वर्ष में उत्पन्न शिशुओं की कुल संख्या से भाग दे दिया जाता है।

$$\text{बा०मृ० दर (I. M. R.)} = \frac{\text{मरे शिशु} \times १०००}{\text{उत्पन्न शिशु}}$$

१९२८ में भारत की बाल-मृत्यु दर १६७ थी जब कि उसी वर्ष इंगलैंड की यह दर केवल ६३ थी। भारत में इस प्रश्न पर अब पहले से अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इस लिये बाल-मृत्यु दर की प्रवृत्ति कम होने की है। १९५८ में यह ११३ थी। फिर भी विदेशों की अपेक्षा भारत में बाल-मृत्यु का प्रश्न अधिक भयानक है। कुछ लोगों का मत

है कि भारत में इस दर में जो कमी हुई है वह केवल दिखावटी है। क्योंकि अब लोग शिशु जन्म को दर्ज कराने में पहले से अधिक रुचि लेने लगे हैं इसलिये भाजक (Diviser) के बढ़ जाने के कारण उत्तर में कमी होना आवश्यम्भावी है। यह सत्य होते हुये भी मृत्युदर में कमी अवश्य हुई है ऐसा विद्वानों का मत है।

(क) बाल-मृत्यु के कारण:—

(१) अति जन-संख्या (Over population):—

जिस देश में जितनी जन-संख्या अधिक होगी वहां मृत्यु-दर भी अधिक होगी भारत में प्रत्येक मिनट में २० शिशु जन्म लेते हैं, १२ व्यक्ति मरते हैं और जनसंख्या में ८ व्यक्तियों की वृद्धि होती है। इस प्रकार हमारे यहां हर वर्ष ४० लाख जन-संख्या की वृद्धि होती है। पर क्या इतनी संख्या के लिये हम जीविका के साधन जुटा पाते हैं? इसीलिये यह अति जन-संख्या बालमृत्यु का कारण बनती है।

(२) निर्धनता:—

अकाल मृत्यु का प्रमुख कारण निर्धनता है। बालक के विकास के लिये पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है पर एक सामान्य भारतीय जिसकी आय केवल २५ रुपया मासिक है अपने परिवार का पेट पालने के अतिरिक्त दूध घी आदि का प्रबन्ध कैसे कर सकता है।

(३) माता की दुर्बलता :—

माता का दुर्बल स्वास्थ्य भी बाल मृत्यु का एक प्रमुख कारण है। माता की दुर्बलता शिशु को भी दुर्बल बना देती है इस प्रकार शिशु बड़ी सरलता से मृत्यु के पाश में फंस सकते हैं।

(४) अस्वच्छता—

किसी व्यक्ति का भी रोग से ग्रस्त कर सकती है, पर छोटा शिशु तो इसके कारण इतना अशक्त हो जाता है कि उसका शरीर रोगों का मुकाबला नहीं कर पाता और उसकी अकाल मृत्यु हो जाती है।

(५) चिकित्सालयों तथा डाक्टरों का अभाव:—

भारत में चिकित्सालयों की बहुत कमी है। रोग की दशा में शीघ्र चिकित्सा न मिलने के कारण बालक का मृत्यु का ग्रास बन जाना स्वाभाविक है।

(६) दीक्षित दाइयों का अभाव:—

शिशु जन्म के अवसर पर सामान्यतः अशिक्षित और गंवार दाइयों की सहायता ली जाती है। इन दाइयों के द्वारा सन्तानोत्पत्ति के गलत और हानिकारक नियमों का उपयोग घातक सिद्ध होता है।

(७) अशिक्षा:—

भारतीय मातायें सामान्यतः शिशु पालन के नियमों से अनभिज्ञ हैं। अशुद्ध रीति से शिशु का पालन करना और रोग होने पर कोई परवाह न करना बालमृत्यु के प्रमुख कारणों में से हैं।

(८) कुप्रथायें:—

भारत में कुछ ऐसी कुप्रथायें हैं जो बालमृत्यु को बढ़ाने में योग देती हैं। पर्दा प्रथा माता के स्वास्थ्य के लिये बहुत हानिकारक है। अस्वस्थ माता की सन्तान का अकालग्रस्त होना स्वाभाविक है। बाल-विवाह की प्रथा पर्दा प्रथा से भी भयानक है। कच्ची उमर में स्त्रियां माता बन जाने के कारण कई रोगों से ग्रस्त हो जाती हैं और फिर कम आयु में उत्पन्न सन्तान भी दुर्बल, क्षीण और रोगी होती है। दहेज की प्रथा भी बाल-मृत्यु का एक कारण है। इस प्रथा के कारण माता-पिता लड़की होने को अच्छा नहीं मानते। इस प्रकार वे लड़की का पालन ठीक प्रकार से नहीं करते। जिससे उनके शीघ्र मर जाने की सम्भावना रहती है। शिशु को सुलाने के लिये माता द्वारा अफीम दे देना एक और दूषित रिवाज है जो बाल-मृत्यु की वृद्धि करता है।

(ख) रोक थाम के उपाय :-

(१) जनसंख्या की वृद्धि की रोक थाम:—

बाल-मृत्यु का उन्मूलन करने के लिये जन-संख्या को बढ़ने से रोकना बहुत आवश्यक है। इसके लिये लोगों में सन्तति नियमन (Birth Control) के लाभ और उपायों का प्रचार करना बहुत जरूरी है।

(२) रहन सहन के स्तर में वृद्धि:—

भारत सरकार अपनी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। निर्धनता को दूर किये बिना बाल-मृत्यु के दानव का हनन नहीं किया जा सकता।

(३) स्त्री-कल्याण केन्द्रों की स्थापना:—

स्त्री-कल्याण केन्द्रों की स्थापना द्वारा माता के स्वास्थ्य की वृद्धि करना भी परमावश्यक है। इन केन्द्रों में भावी माता और दूध पिलानेवाली माताओं के कल्याण के लिये विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

(४) स्वास्थ्य के सिद्धान्तों का प्रचार:—

स्वास्थ्य के सिद्धान्तों का प्रचार करके लोगों को स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिये प्रोत्साहित करना भी अति-उत्तम है। शिशु के स्वास्थ्य को उत्तम करने के लिये वातावरण को रोग-रहित करना बहुत आवश्यक है।

(५) चिकित्सालयों की स्थापना:—

शिशु के स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिये चिकित्सालयों की स्थापना होनी चाहिए। सरकार का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक ५ मील में कम से कम एक अस्पताल अवश्य खोले। इसके अतिरिक्त रोगों की रोकथाम के लिए टीकों का प्रबन्ध होना चाहिये।

(६) दाइयों की दीक्षा:—

दाइयों की दीक्षा के केन्द्रों की स्थापना करके दीक्षित दाइयों की कमी को दूर करना भी आवश्यक है। अपढ़ दाइयों द्वारा सन्तानोत्पत्ति के हानिकारक उपाय शिशु के लिये घातक सिद्ध होते हैं, इसीलिये इस दोष को दूर करने के लिये दाइयों को दीक्षा देने का प्रबन्ध होना चाहिये।

(७) शिक्षा का प्रसार:—

भारतीय माताओं की शिशु पालन सम्बन्धी अज्ञानता का नाश करने के लिये शिक्षा का प्रसार करना आज के युग की सबसे बड़ी माँग है। शिक्षा के द्वारा मातायें शिशु कल्याण के महत्व और विधि से अवगत की जा सकती हैं।

(८) शिशु कल्याण केन्द्रों की स्थापना:—

शिशु के कल्याण के लिये शिशु कल्याण केन्द्रों की स्थापना बहुत आवश्यक है। अच्छा तो यह है कि शिशु और माता दोनों के कल्याण केन्द्र एक इकाई के रूप में संगठित हों। इन केन्द्रों में जच्चा बच्चा के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिया जा सकता है।

(६) कुप्रथाओं का उन्मूलन:—

बाल-मृत्यु का नाश करने के लिये पर्दा प्रथा, बाल-विवाह, दहेज आदि कुप्रथाओं का नाश परमावश्यक है।

४. आन्दोलन के कार्य

(क) कल्याण केन्द्रों की स्थापना:—

जच्चा बच्चा के कल्याण के लिये कल्याण केन्द्रों की स्थापना इस आन्दोलन का मुख्य कार्य है। इन केन्द्रों में सामान्यता ३ प्रकार के कार्य किये जाते हैं।

१. प्रसव-पूर्व प्रबन्ध (Ante-netal Management)
२. प्रसवावस्था प्रबन्ध (Intra-netal Management)
३. प्रसवोपरान्त प्रबन्ध (Post-netal Management)

प्रसव से पूर्व की अवस्था में कल्याण केन्द्र भावी माता के स्वास्थ्य की जाँच और देख-भाल करते हैं उसे शिशु के स्वागत की विधियों और प्रबन्धों के सम्बन्ध में ज्ञान देते हैं। भावी माँ कैसा भोजन करे, कैसा व्यायाम करे, रोग की दशा में क्या करे यह सब इन कल्याण केन्द्रों में सिखाया जाता है। कहीं-कहीं निर्धन गर्भिणियों के लिये दूध की भी मुफ्त व्यवस्था की जाती है।

प्रसवावस्था में यह केन्द्र स्त्री को अपने यहाँ भरती कर लेते हैं और शिशु जन्म की वैज्ञानिक विधियों द्वारा शिशु को संसार में लाने का प्रबन्ध करते हैं।

प्रसव के उपरान्त भी ये केन्द्र माता और शिशु दोनों के स्वास्थ्य की देखभाल करते हैं, माता को शिशु पालन की उचित रीतियों से अवगत कराते हैं।

जो स्त्रियाँ कल्याण केन्द्रों में नहीं जा सकती उनकी सहायता के लिये किन्हीं २ केन्द्रों में स्वास्थ्य दर्शिकाओं (Health-Visitors) का प्रबन्ध किया जाता है।

प्रसवावस्था से पूर्व ये स्वास्थ्य दर्शिकायें गर्भिणी के लगभग ३ परीक्षण करती हैं। गर्भ के प्रारम्भिक दिनों में ये भावी माँ के समूचे शरीर की जाँच करके देखती हैं कि कहीं उसे कोई ऐसा रोग अथवा विकार तो नहीं जो शिशु की उत्पत्ति में बाधक हो अथवा जो माता के द्वारा शिशु को भी हो सके। रोग की अवस्था में समय पर उनकी चिकित्सा कराई जा सकती है। दूसरा परीक्षण गर्भ के लगभग सातवें मास किया जाता है। इसमें यह देखा जाता है कि गर्भ में शिशु की स्थिति कैसी है। यदि वह उल्टी हो तो उसे ठीक करने के उपाय किये जाते हैं इसके साथ ही भावी माँ का पेशाब भी जाँच किया जाता है। तीसरा परीक्षण गर्भ के अन्तिम दिनों में किया जाता है और यह देखा जाता है कि गर्भिणी की दशा कैसी है।

प्रसवावस्था में ये दर्शिकायें दीक्षित नर्सों का कार्य करती हैं और सन्तानोत्पत्ति के वैज्ञानिक उपायों का प्रयोग करती हैं।

प्रसवोपरान्त की अवस्था में यह दर्शिकायें निम्नलिखित उपायों से माता और शिशु की सहायता करती हैं।

१. यह देखना कि माता अथवा शिशु को कोई रोग तो नहीं हो रहा है।
२. माता को दूध पिलाने की शुद्ध विधि बताना।
३. यह देखना कि माता का दूध शिशु के लिये पर्याप्त है अथवा नहीं, यदि नहीं तो इस सम्बन्ध में माता क्या करे।
४. रोगों से बचाव के लिये टीके लगवाने का प्रबन्ध।
५. माता को शिशु पालन (स्नान, पान, वस्त्र, दाँत, वजन आदि) के सिद्धान्तों से अवगत करना।
६. दूध छुड़ाने के उपाय बताना।

में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। ऐसे आलोचक यह भूल जाते हैं कि पश्चिमी देशों का आन्दोलन हमसे लगभग ५० वर्ष पुराना है। कल्याणान्दोलन का श्री गणेश इंगलैंड मे १८७५ में हुआ जब कि भारत में इसका आरंभ लार्ड चेम्सफर्ड (Lord Chelmsford) के शासन काल में (१९१६-२१) में दिल्ली में दाइयों को दीक्षा के प्रथम स्कूल के खुलने के साथ हुआ। लेडी चेम्फर्ड शिशु कल्याण में बहुत रुचि रखती थीं और उन्होंने इस सम्बन्ध में एक संस्था का निर्माण किया। बाद में यह संस्था भारतीय रेड क्रास सोसाइटी में सम्मिलित हो गई। पश्चिमी देशों की प्रगति से तुलना तो उस दशा में हो सकती जबकि उनके और हमारे आन्दोलन के बीच ५० वर्ष की यह खाई न होती। दूसरे हमें स्वतन्त्र हुये भी कितने वर्ष हुये हैं? इस कम समय में हम कितनी प्रगति की आशा कर सकते हैं। फिर भी जितना कार्य किया गया है वह संतोषजनक है।

कुछ लोगों का मत है कि यह आन्दोलन जन-संख्या के प्राकृतिक सन्तुलन (Natural Equilibrium) के मार्ग में रुकावट है। भारत में अति जन-संख्या है और माल्थस के जन-संख्या के सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति अतिरिक्त जनसंख्या का नाश करके खाद्य पदार्थों और जन-संख्या में सन्तुलन करने की चेष्टा करती है। पर यह आन्दोलन प्रकृति की इस चेष्टा को विफल करने का प्रयास करता है। भारत की आवश्यकता शिशु-कल्याण नहीं अपितु सन्तति नियमन है। यह आलोचना भी कल्याणान्दोलन का खण्डन नहीं कर सकती। इस प्रकार के आलोचक यह सोचते हैं कि शिशु कल्याणान्दोलन का कार्य केवल बाल-मृत्यु दर को कम करता है और मृत्यु दर को घटाने के उपाय जीवित शिशुओं के स्वास्थ्य पर कोई ध्यान ही नहीं देते। ऐसा सोचना पूर्णतया भ्रमपूर्ण है। शिशु कल्याणान्दोलन मृत्यु-दर घटाने के साथ-साथ यह भी प्रयत्न करता है कि जीवित शिशुओं का स्वास्थ्य क्षीण न हो। इसलिये यह आलोचना भी त्रुटिपूर्ण है।

हाँ, एक बात आवश्यक है कि चिकित्सालयों और कल्याण केन्द्रों में तालमेल रहीं। यद्यपि चिकित्सालयों और कल्याण केन्द्रों दोनों का ही यह कार्य है कि शिशु और माता के स्वास्थ्य को उन्नत किया जाय पर अभी तक ये एक दूसरे से सहयोग स्थापित नहीं कर सके। इस दोष को दूर करने के लिए भारत मे चिकित्सा और स्वास्थ्य दोनों विभागों को एक कर दिया गया है फिर भी उनमें उचित तात्पर्य नहीं। इस दोष को दूर करने के लिए जिले के स्तर पर भी दोनों का शासन एक व्यक्ति के हाथ में होना चाहिये। इस समय जिले में स्वास्थ्य विभाग का अधिकारी स्वास्थ्याधिकारी (Health officer) है और चिकित्सा-विभाग का अधिकारी सिविल सर्जन (Civil Surgeon)। पर आवश्यकता इस बात की है कि दोनों विभाग एक ही अधिकारी के नियन्त्रण में रहें।